बादलों के घेरे

बादलों के घेरे

कृष्णा सोबती

राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

बादलों के घेरे

बादलों के घेरे

भुवाली की इस छोटी सी कॉटेज में लेटा लेटा मैं सामने के पहाड़ देखता हूँ। पानी-भरे सूखे-सूखे बादलों के घेरे देखता हूँ। बिना आँखों के भटक भटक जाती धुन्ध के निष्फल प्रयास देखता हूँ। और फिर लेटे लेटे अपने तन का पतझार देखता हूँ। सामने पहाड़ के रूखे हरियाले में रामगढ़ जाती हुई पगडण्डी मेरी बाँह पर उभरी लम्बी नस की तरह चमकती है। पहाड़ी हवाएँ मेरी उखड़ी उखड़ी साँस की तरह कभी तेज कभी हौले इस खिड़की से टकराती हैं, पलंग पर बिछी चद्दर और ऊपर पड़े कम्बल से लिपटी मेरी देह चूने की-सी कच्ची तह की तरह घुल घुल जाती है और बरसों के ताने-बाने से बुनी मेरे प्राणों की धड़कनें हर क्षण बन्द हो जाने के डर में चूक जाती हैं।

मैं लेटा रहता हूँ और सुबह हो जाती है। मैं लेटा रहता हूँ शाम हो जाती है। मैं लेटा रहता हूँ रात झुक जाती है। दरवाजे और खिड़कियों पर पड़े परदे मेरी ही तरह दिन रात सुबह शाम अकेले मौन भाव से लटकते रहते हैं। कोई इन्हें भरे भरे हाथों से उठाकर कमरे की ओर बढ़ा नहीं आता। कोई इस देहरी पर अनायास मुस्कराकर खड़ा नहीं हो जाता। रात, सुबह शाम बारी-बारी से मेरी शैया के पास घिर घिर आते हैं और मैं अपनी इन फीकी आँखों से अँधेरे और उजाले को नहीं लोहे के पलंग पर पड़े अपने आपको देखता हूँ। अपने इस छूटते छूटते तन को देखता हूँ। और देखकर रह जाता हूँ। आज इस रह जाने के सिवाय कुछ भी मेरे बस में नहीं रह गया। सब अलग जा पड़ा है। अपने कन्धों से जुड़ी अपनी बाँहों को देखता हूँ मेरी बाँहों में लगी वे भरी भरी बाँहें कहाँ हैं कहाँ हैं वह सुगन्ध भरे केश जो मेरे वक्ष पर बिछ बिछ जाते थे? कहाँ हैं वे रस भरे अधर जो मेरे रस में भीग भीग जाते थे? सब

था। मेरे पास सब था, बस, मैं आज-सा नहीं था। जीने का ढंग था, सोने का सग था और उठने का सग था। मैं धुले-धुले सिरहाने पर सिर डालकर सोता रहता और कोई हौले-से चूमकर कहता—"उठोगे नहीं···भोर हो गयी।"

आँखें बन्द किये-किये ही हाथ उस मोह-भरी देह को घेर लेते और रात के बीते क्षणों को सूँघ लेने के लिए अपनी ओर झुकाकर कहते—"इतनी जल्दी क्यों उठती हो"

हल्की-सी हँसी और बाँह खुल जाती। आँखें खुल जातीं और गृहस्थी पर सुबह हो आती। फूलों की महक में नाश्ता लगता। धुले-ताजे कपड़ों में लिपटकर गृहस्थी की मालकिन अधिकार-भरे सयम से सामने बैठ रात के सपने साकार कर देती। प्याले में दूध उँडेलती उन उँगलियों को देखता। क्या मेरे बालों को सहला सहलाकर सिहरन देनेवाला स्पर्श इन्हीं की पकड़ में है? आँचल को थामे आगे की ओर उठा हुआ कपड़ा जैसे दोनों ओर की मिठास को सम्हालने को सतर्क रहता। क्षण-भर को लगता, क्या गहरे में जो मेरा अपना है, यह उसके ऊपर का आवरण है या जो केवल मेरा है, वह इससे परे, इसस नीचे कहीं और है। एक शिथिल मगर बहती-बहती चाह विभोर कर जाती। मैं होता, मुझमें लगी एक और देह होती। उसमें मिठास होती, जो रात में लहरा-लहरा जाती। और एक रात भुवाली के इस क्षय-ग्रस्त अँधियारे में आती है। कम्बल के नीचे पड़ा-पड़ा मैं दवा की शीशियाँ देखता हूँ और उन पर लिखे विज्ञापन देखता हूँ। घूँट भरकर जब इन्हें पीता हूँ, तो सोचता हूँ, तन के रस रीत जाने पर हाड़-मास सब काठ हो जाते हैं। मिट्टी नहीं रहता हूँ। मिट्टी हो जाने से तो मिट्टी से फिर रस उभरता है, अभी तो मुझे मिट्टी होना है।

कैसे सरसते दिन थे! तन-मन को सहलाते-बहलाते उस एक रात को मैं आज के इस शून्य में टटोलता हूँ। सदियों के एकान्त मौन में एकाएक किसी का आदेश पाकर मैं कमरे की ओर बढ़ता हूँ। बत्ब के नीले प्रकाश में दो अधखुली थकी थकी पलकें जरा-सी उठती हैं और बाँह के घेरे-तले सोये शिशु को देखकर मेरे चेहरे पर ठहर जाती हैं। जैसे कहती हों—तुम्हारे आलिंगन को तुम्हारा ही तन देकर सजीव कर दिया है। मैं उठता हूँ, ठण्डे मस्तक को अधरों से छूकर यह सोचते-सोचते उठता हूँ कि जो प्यार तन में जगता है तन से उपजता है, वही देह पाकर दुनिया में जी भी जाता है।

पर कहीं, एक दूसरा प्यार भी होता है, जो पहाड़ के सूखे बादलों की तरह उठ-उठ आता है और बिना बरसे ही भटक-भटककर रह जाता है।

वर्षों बीते। एक बार गर्मी में पहाड़ गया था। बुआ के यहाँ पहली बार

उन आंखों-सी आँखों को देखा था। धुपाती सुबह थी। नाश्ते की मेज से उठा तो परिचय करवाते करवाते न जाने क्यों बुआ का स्वर जरा सा अटका था सांस लेकर कहा— मनो से मिलो रवि दो ही दिन यहां रहेगी। —बुआ के मुख से यह फीका परिचय अच्छा नहीं लगा। सांस भरकर बुआ का वह दो दिन कहना किसी कड़पन को भन लेने सा लगा। वह कुछ बोली नहीं सिर हिलाकर अभिवादन का उत्तर दिया और जरा-सा हँस दी। उस दूर दूर लगनेवाले चेहरे से मैं अपने को लौटा नहीं सका। उस पतले किन्तु भरे भरे मुख पर कसकर बांध घुंघराले बालों को देखकर मन में कुछ ऐसा सा हो आया कि किसी ने गहरे उत्साह की सजा अपने को दे डाली है।

सब उठकर बाहर आये तो बुआ के बच्चे उस दुबली देह पर पड़े आँचल को खींच स्नेह से उन बाहों से लिपट लिपट गये मनो जीजी मनो जीजी। बुआ किसी काम से अन्दर जा रही थीं खिलखिलाहट सुनकर लौट पड़ीं। बुआ का वह कठिन बंधा और खिंचाव को छिपानेवाला चेहरा मैं आज भी भूला नहीं हूँ। कड़े हाथों से बच्चों को छुड़ाती ठण्डी निगाह से मनो को देखती हुई ढीले स्वर में बोलीं— जाओ मनो कमरे में घूम आओ। तुम्हें उलझा-उलझाकर तो ये बच्चे तंग कर डालेंगे। माँ की घुड़की आँखों-ही आंखों में समझकर बच्चे एक ओर हो गये। बुआ के खाली हाथ जैसे झेंपकर नीचे लटक गये और मनो की बड़ी बड़ी आँखों की घनी पलकें न उठी न गिरी बस एकटक बुआ की ओर देखती रह गयी।

बुआ इस सकोच से उबरी तो मनो धीमी गति से फाटक से बाहर हो गयी थी। कुछ समझ लेने के लिए आग्रह से बुआ से पूछा— कहो तो बुआ बात क्या है?

बुआ अटकी फिर झिझककर बोली— बीमार है रवि दो बरस सनेटोरियम में रहने के बाद अब जेठजी ने यहीं काटेज ले दी है। साथ घर का पुराना नौकर रहता है। कभी अकेले जी ऊब जाता है तो दो चार दिन को शहर चली जाती है।

नहीं नहीं बुआ! —मैं पक्का खाकर जैसे विश्वास नहीं करना चाहता।

रवि जब कभी चार छः महीने बाद लड़की को देखती हूँ तो भूख प्यास सब सूख जाती है।

मैं बुआ की इस सच्चाई को कुरेद लेने को कहता हूँ— बुआ बच्चों को एकदम अलग करना ठीक नहीं हुआ पल भर तो रुक जाती।

बुआ ने बहुत बड़ी निगाह से देखा जैसे कहना चाहती हो— तुम यह सब नहीं

तमस्मोद और अन्दर चली गयी। बच्चे अपने खेल में जुट गये थे। मैं खड़ा-खड़ा बार-बार सिगरेट के धुंए से अपने तन का भय और मन की जिज्ञासा उड़ाता रहा। कितनी घुटन होगी उन आँखों में! पर बुआ भी तो कुछ गलत नहीं था। उलझा-उलझा-सा मैं बाहर निकला और उतराई उतरकर झील के किनारे-किनारे हो गया। सड़क के साथ-साथ इस ओर छाँह थी। उछल-उछल आती पानी की लहरें कभी धूप में रुपहली हो जाती थीं। देवी के मन्दिर के आगे पहुँचा, तो रुका, जंगले पर हाथ टिकाये झील में नौकाओं की दौड़ देखता रहा। बलिष्ठ हाथों से चप्पू थामे कुछ युवक तेज रफ्तार से तल्लीताल की ओर जा रहे हैं, पीछे की किश्ती में अपने तन-मन से बेखबर एक जोड़ा बैठे ऊँघ रहे हैं। उनके पीछे बोट-क्लब की किश्ती में विदेशी युवतियाँ·· फिर और दो-चार पालदार नौकाएँ ··

एकाएक किश्ती में नहीं, जैसे पानी की नीची सतह पर वही पीला चेहरा देखता हूँ, वही बड़ी-बड़ी आँखें, वही दुबली-पतली बाँहें, वही बुआ के घरवाली मन्नो। दो-चार बार मन-ही-मन नाम दोहराता हूँ, मन्नो, मन्नो, मन्नो·· लगता है मैं ऊँचे किनारे पर खड़ा हूँ और पानी के साथ-साथ मन्नो बही चली जा रही है। लम्बे घुंघराले बाल, झपकती पलकें···पर बुआ कहती थी बीमार है, मन्नो बीमार है।

जंगले पर से हाथ उठाकर बुआ के घर की दिशा में देखता हूँ। चीना की चोटी अपने पहाड़ी संयम से सिर उठाये सदा की तरह सीधी खड़ी है। एक ढलती-सी पथरीली ढलान को उसने जैसे हाथ से थाम रखा है। और मैं नीचे इस सड़क पर खड़े-खड़े सोचता हूँ कि सब कुछ रोज जैसा है, केवल मन से उभर-उभर आती वे दो आँखें नयी हैं और उन दो आँखों के पीछे की बीमारी·· जिसे कोई छू नहीं सकता, कोई उबार नहीं सकता।

घर पहुँचा, तो बुआ बच्चों को लेकर कहीं बाहर चली गयी थी। कुछ देर ड्राइंग-रूम में बैठा-बैठा बुआ के सुघड़ हाथों की नयी सजावट देखता रहा। कीमती फूलदानों में लगायी गयी पहाड़ी झाड़ियाँ सुन्दर लगती थीं। कैबिनट पर बड़ी कीमती फ्रेम में लगे सपरिवार चित्र के आगे खड़ा हुआ, तो बुआ के साथ खड़े फूफा की ओर देखकर सोचता रहा कि बुआ के लिए इस चेहरे पर कौन-सा आकर्षण है, जिससे बंधी-बंधी वह दिन-रात, वर्ष-मास अपने को निभाती चली आती है, पर नहीं, बुआ के ही घर में होकर यह सोचना मन के शील से परे है···

निकलकर ड्राइंग-रूम से निकलता हूँ और अपने कमरे की सीढ़ियाँ चढ़ जाता हूँ। सिगरेट जलाकर झील के दक्खिनी किनारे पर खुलती खिड़की के बाहर

देखने लगता हूँ। हरे पहाड़ों के छोटे-बड़े आकारों में टीन की लाल-लाल छतें और बीच-बीच में मटियाली पगडण्डियाँ। बुआ खाने तक लौट आयेंगी और मन्नो भी तो · देर तक बैठा-बैठा किसी पुराने अखबार के पन्ने पलटता रहा। बुआ लौटी नहीं। घड़ी की टन-टन के साथ नौकर ने खाने के लिए अनुरोध किया।

"खाना लगेगा, साहिब ?"

"बुआ कब तक लौटेंगी ?"

"खाने को तो मना कर गयी हैं।"

कथन के रहस्य को मैं इन अर्थहीन-सी आँखों में पढ़ जाने के प्रयत्न में रहता हूँ।

"और जो मेहमान हैं ?"

नौकर तत्परता से झुककर बोला, "आपके साथ नहीं, साहिब ! वह अलग से ऊपर खायेंगी।"

मैं एक लम्बी साँस भरकर जले सिगरेट के टुकड़े को पैर के नीचे कुचल देता हूँ। शायद साथ खाने के डर से छुटकारा पाने पर या शायद साथ न खा सकने की विवशता पर। उस दिन खाने की मेज पर अकेले खाना खाते-खाते क्या सोचता रहा था, आज तो याद नहीं, बस इतना-सा याद है, काँटे-छुरी से उलझता बार-बार मैं बाहर की ओर देखता था।

मीठा कौर मुँह में लेते ही घोड़े की टाप सुनायी दी, ठिठककर सुना—"सलाम, साहिब।"

धीमी मगर सधी आवाज—"दो घण्टे तक पहुँच सकोगे न ?"

"जी, हुजूर।"

सीढ़ियों पर आहट हुई और शायद अपने कमरे तक पहुँचकर खत्म हो गयी। खाने के बरतन उठ गये। मैं उठा नहीं। दोबारा कॉफी पी लेने के बाद भी वहीं बैठा रहा। एकाएक मन में आया कि किसी के छोटे-से परिचय से मन में इतनी द्विधा उपजा लेना कम छोटी दुर्बलता नहीं है। आखिर किसी से मिल ही लिया हूँ, तो उसके लिए ऐसा-सा क्यों हुआ जा रहा हूँ !

घण्टे-भर बाद मैं किसी की पैरों चली सीढ़ियों पर ऊपर चढ़ा जा रहा था। खुले द्वार पर परदा पड़ा था। हौले-से थाप दी।

"चले आइए।"

परदा उठाकर देहरी पर पाँव रखा। हाथ में कश्मीरी शाल लिये मन्नो सूटकेस के पास खड़ी थी। देखकर चौंकी नहीं। सहज स्वर में कहा, "आइए।" फिर सोफे पर फैले कपड़े उठाकर कहा, "बैठिए।"

बैठे-बैठे सोचा, बुग्रा के घर-भर में सबसे अधिक सजा और साफ़ कमरा यही है। नया-नया फर्नीचर, कीमती परदे और इन सबमें हल्के पीले कपड़ों में लिपटी मन्नो। अच्छा लगा।

बात करने को कुछ भी न पाकर बोला, "आप सच तो · "

"जी, मैं कर चुकी हूँ।" और भरपूर मेरी ओर देखती रही।

मैं जैसे कुछ कहलवा लेने को कहता हूँ, 'बुग्रा तो कहीं शहर गयी हैं।"

सिर हिलाकर मन्नो शाल की तह लगाती है और सूटकेस में रखते-रखते कहती है, "शाम से पहले ही नीचे उतर जाऊँगी। बुग्रा से कहिएगा एक ही दिन को आयी थी।"

"बुग्रा तो आती ही होंगी।"

इसका उत्तर न शब्दों में आया, न चेहरे पर से। कहते-कहते एक बार रुका, फिर न जाने कैसे आग्रह न कहा, 'एक दिन और नहीं रुक सकेंगी!"

वह कुछ बोली नहीं। बन्द करते सूटकेस पर झुकी रही।

फिर पल-भर बाद जैसे स्नेह-भरे हाथ से अपने बालों को छुआ और हँसकर कहा, "क्या करूँगी यहाँ रहकर? मुझसी के इतने बड़े गाँव के बाद यह छोटा-सा शहर मन को भाता नहीं।"

वह छोटी सी खिलखिलाहट, वह कड़वाहट से परे का व्यंग्य, आज इतने वर्षों के बाद भी, मैं वैसे ही, बिल्कुल वैसे ही सुन रहा हूँ। वही शब्द हैं, वही हँसी और वही पीली-सी सूरत

हम साथ साथ नीचे उतरे थे। मेरी बाँह पर मन्नो का कोट था। नौकर और माली ने झुककर सलाम किया और अतिथि से इनाम पाया। साईस ने घोड़े को थपथपाया।

'हुज़ूर, चढ़ेंगी!"

उनकी उठती नज़र उन आँखों की, बाँह पर लटके कोट पर अटकी।

'पैदल जाऊँगी। घोड़ा आगे-आगे लिये चलो।"

चाहा कि घोड़े पर चढ़ जाने के लिए अनुरोध करूँ, पर कर नहीं पाया। फाटक से बाहर होते-होते वह पल-भर को पीछे मुड़ी, जैसे छोड़ने के पहले घर को देखती हो। फिर एकाएक अपने को सँभालकर नीचे उतर गयी।

टैक्सी खड़ी थी। सामान लगा। ड्राइवर ने उन कठिन क्षणों को मानो भाँपकर कहा, 'कुछ और देर है, साहिब।"

मन्नो ने इस बार कहीं देखा नहीं। कोट लेने के लिए मेरी ओर हाथ बढ़ा दिया। कार में बैठी तो कुली ने तत्परता से पीछे से कम्बल निकाला और घुटनों

पर डालते हुए कहा, "कुछ और, मेम साहिब ?"

घुंघराली छाँह ढीली-सी होकर सीट के साथ जा टिकी। घुटनों पर पतली पतली सी विवश बाँहें फैलाते हुए धीरे-से कहा, "नहीं-नहीं, कुछ और नहीं। धन्यवाद।"

अधखुले काँच में से अन्दर झाँका। मुख पर थकान के चिह्न थे। बाँहों में मछलीमुखी कंगन थे। आँखों में क्या था, यह मैं पढ नहीं पाया। वही पीली, पतझडी दृष्टि उन हाथों पर जमी थी, जो कम्बल पर एक-दूसरे से लगे मौन पड़े थे।

कार स्टार्ट हुई। मैं पीछे हटा और कार चल दी। विदाई के लिए न हाथ उठे, न अधर हिले। मोड़ तक पहुँचने तक पीछे के शीशे से सादगी से बँधा बालों का रिबन देखता रहा और देर तक वह दर्दीले धन्यवाद की गूँज सुनता रहा—नहीं-नहीं, कुछ और नहीं।

वे पल अपनी कल्पना से आज भी लौटाता हूँ तो जी को कुछ होने लगता है। उस कार को भगा ले जानेवाली सूखी सडक से घूमकर मैं ताल के किनारे-किनारे चला जा रहा हूँ। अपने को समझाने-बुझाने पर भी वह चेहरा, वह बीमारी मन पर से नहीं उतरती। रुक-रुककर थक थककर जैसे मैं उस दिन घर की चढाई चढा था, उसे याद कर आज भी निढाल हो जाता हूँ। घर पहुँचा। बरामदे में से कुर्सी फर्नीचर निकाल रहे थे। मन धक्का खाकर रह गया। तो उस मन्नो के कमरे की सजावट, सुख सुविधा सब किराये पर बुआ ने जुटाये थे। दुपहर में बुआ के प्रति जो कुछ जितना भी अच्छा लगा था, वह सब उल्टा हो गया।

आगे बढा, तो द्वार पर बुआ खड़ी थी। सन्देह से मुझे देख और पास होकर फीके गले से कहा 'रवि मुँह हाथ धो डालो, सामान सब तैयार मिलेगा वहाँ, जल्दी लौटोगे न, चाय लगने को ही है।'

चुपचाप बाथ रूम में पहुँच गया। सामान सब था। मुँह-हाथ धोने से पहले गिलास में उँडेलकर रखे गर्म पानी से गला साफ किया। ऐसा लगा किसी की घुटी-घुटी जकड में से बाहर निकल आया हूँ। कपड़े बदलकर चाय पर जा बैठा। बच्चे नहीं, केवल बुआ थी। बुआ ने चाय उँडेली और प्याला आगे कर दिया।

"बुआ !"

बुआ ने जैसे सुना नहीं।

"बुआ, बुआ ! —पल भर के लिए अपने को ही कुछ ऐसा-सा लगा कि

किसी और को पुकारने के लिए बुआ को पुकार रहा हूँ। बुआ ने चिबु
ऊपर उठायी। समझ गया कि बुआ चाहती है, कुछ कहूँ नहीं, पर मैं

"बुआ, दो दिन की मेहमान तो एक ही दिन में चली गयी।"

सुनकर बुआ चम्मच से अपनी चाय हिलाने लगी। कुछ बोली
मौन से मैं और भी निर्दयी हो गया।

'कहती थी, बुआ से कहना मैं एक ही दिन को आयी थी।"

इसके आगे बुआ जैसे कुछ और सुन नहीं सकी। गहरा लम्बा
आहत आँखों से मुझे देखा—'तुम कुछ और नहीं कहोगे, रवि···"
का प्याला वहीं छोड़ कमरे से बाहर हो गयी।

उस रात दौरे से फूफा के लौटने की बात थी। नौकर ने पूछ
लगा दो दिन के बाद आने का तार आ चुका है। चाहा, एक ब
कमरे तक हो आऊँ, पर संकोचवश पाँव उठे नहीं। देर बाद सीढ़ि
को पाया, तो सामने मन्नो का खाली कमरा था। आगे बढ़कर बिज
सब खाली था, न परदे, न फर्नीचर न मन्नो एकाएक अँधे
खिड़कियों को देख मन में आया, आज वह यहाँ रहती, तो रात देर
पास यहीं बैठी रहती और मैं शायद इसी तरह जैसे अब यहाँ आय
पास आता, उसके···

यह सब मैं क्या सोच रहा हूँ, क्यों सोच रहा हूँ '

किसी अनदेखे भय से घबराकर नीचे उतर आया। खिड़की से
अँधेरा था। सिरहाना खींचा, बिजली बुझायी और बिस्तर पर पड़े-
की वह छोटी-सी काटेज देखता रहा, जहाँ अब तक मन्नो पहुँच गयी

"रवि।"

मैं चौंका नहीं, यह बुआ का स्वर था। बुआ अँधेरे में ही प
और धीमे हौले सिर सहलाती रहीं।

"बुआ।"

बुआ का हाथ पल-भर को थमा। फिर कुछ झुककर मेरे माथे तक
रुँधे स्वर से कहा, 'रवि, तुम्हें नहीं, उस लड़की को दुलराती हूँ। म
उस तक नहीं पहुँचता ··"

मैं बुआ का नहीं, मन्नो का हाथ पकड़ लेता हूँ।

बुआ देर तक कुछ नहीं बोलीं। फिर जैसे कुछ समझते हुए अपने
कर कहा, "रवि, उसके लिए कुछ मत सोचो, उसे अब रहना नहीं है
मैं बुआ के स्पर्श-तले सिहरकर कहता हूँ, 'बुआ, मुझे ही कौन र

आज वर्षों बाद भुवाली में पड़े-पड़े मैं असंख्य बार सोचता हूँ कि उस रात मैं अपने लिए यह क्यों कह गया था ! क्यों कह गया था वे अभिशाप के बोल, जो दिन-रात मेरे इस तन मन पर से सच्चे उतरे जा रहे हैं ? सुनकर बुआ को कैसा लगा, नहीं जानता। वे हाथ खींचकर उठीं। रोशनी की, और पूरी आँखों से मुझे देखकर अविश्वास और भर्त्सना से कहा, "पागल हो गये हो, रवि ! उसके साथ अपनी बात जोड़ते हो, जिसके लिए कोई राह नहीं रह गयी, कोई और राह नहीं रह गयी।"

फिर कुर्सी पर बैठते बैठते कहा, "रवि, तुम तो उसे सुबह-शाम तक ही देख पाये हो। मैं वर्षों से उसे देखती आयी हूँ और आज पत्थर-सी निष्ठुर हो गयी हूँ। उसे अपना बच्चा ही करके मानती रही हूँ, यह नहीं कहूँगी। अपने बच्चों की तरह तो अपने बच्चों के सिवाय और किसे रखा जा सकता है ! पर जो कुछ जितना भी था, वह प्यार, वह देखभाल सब व्यर्थ हो गये हैं। कभी छुट्टी के दिन उसकी बोर्डिंग से आने की राह तकती थी, अब उसके आने से पहले उसके जाने का क्षण मनाती हूँ और डरकर बच्चों को लिये घर से बाहर निकल जाती हूँ।"

बुआ के बोल कठिन हो आये।

"रवि, जिसे बचपन में मोहवश कभी डराना नहीं चाहती थी, आज उसी से डरने लगी हूँ। उसकी बीमारी से डरने लगी हूँ।" फिर स्वर बदलकर कहा, "तुम्हारा ऐसा जीवट मुझमें नहीं कि कहूँ, डरती नहीं हूँ।" बुआ ने यह कहकर जैसे मुझे टटोला—और मैं बिना हिलेडुले चुपचाप लेटा रहा।

बुआ असमंजस में देर तक मुझे देखती रहीं। फिर जाने को उठीं और रुक गयीं। इस बार स्वर में आग्रह नहीं, चेतावनी थी—"रवि, कुछ हाथ नहीं लगेगा। जिसके लिए सब राह रुकी हो, उसके लिए भटको नहीं।"

पर उस दिन बुआ की बात मैं समझा नहीं, चाहने पर भी नहीं।

अगली सुबह चाहा कि घूम घूमकर दिन बिता दूँ। घोड़ा दौड़ाता लड़ियाकाँटा पहुँचा और उन्हीं पैरों लौट आया। घर की ओर मुँह करते-करते, न जाने क्यों, मन को कुछ ऐसा लगा कि मुझ पर नहीं, कहीं और पहुँचना है। चढ़ाई के मोड़ पर कुछ देर खड़ा-खड़ा सोचता रहा और जब ढलती दुपहरी में तल्लीताल की उतराई उतरा तो मन के आगे सब साफ था।

मुझे भुवाली जाना था।

बस से उतरा। अड्डे पर रामगढ़ के लाल-लाल सेबों के ढेर देखकर यह नहीं लगा कि यही भुवाली है। बस में सोचता आया था कि वहाँ घुटन होगी,

पर चीड़ के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों से लहराती हवाएँ बह-बह आती थीं। धौंह ऊपर उठती है, धूप नीचे उतरती है और भुवाली मन को अच्छी लगती है। तन को अच्छी लगती है। चौराहे से होकर पोस्ट-आफिस पहुँचा। काटेज का पता लगा लिया और छोटे-से पहाड़ी बाजार में होता हुआ 'पाइन्स' की ओर हो लिया। खुली-चौड़ी सड़क के मोड़ से अच्छी-सी पतली राह ऊपर जा रही थी। जंगले से नीचे देखा, अलग-अलग खड़े पहाड़ों के बीच की जगह पर एक खुली-चौड़ी घाटी बिछी थी। तिरछे-सीधे, छोटे-छोटे खेत किसी के घुटने पर रखे कसीदे के कपड़े की तरह धरती पर फैले थे। दूर सामने दक्खिन की ओर पानी का ताल धूप में चाँदी के थाल की तरह चमकता था।

इस पहली बार भुवाली आने के बाद मैं एक बार नहीं, कई बार यहाँ आया, लौट-लौटकर यहाँ आया, पर उस आने-जैसा आना तो फिर कभी नहीं आया। मैं चलता हूँ चलता हूँ और कुछ सोचता नहीं हूँ। न यह सोचता हूँ कि मन्नो के पास जा रहा हूँ। न यह सोचता हूँ, कि मैं जा रहा हूँ। बस, चला जा रहा हूँ। पेड़ के तने पर लिखा है, 'पाइन्स'। लकड़ी का फाटक खोलता हूँ और गमलों की कतारों के साथ-साथ बरामदे तक पहुँच जाता हूँ। कार्पेट पर हौले-हौले पाँव रखता हूँ कि कम आवाज हो। द्वार खटखटाता हूँ और झुकी कमर पर अनुभवी चेहरा इधर बढ़ा आता है। जान लेता हूँ कि यही पुराना नौकर है।

"घर में हैं?"

"बिटिया को पूछते हो, बेटा?"

मैं सिर हिलाता हूँ।

"बिटिया नीचे ताल को उतरी थीं; लौटती ही होंगी।"

मैं बाहर खुले में बैठा-बैठा प्रतीक्षा करता हूँ। मन्नो अब आ रही है, आनेवाली है, आती ही होगी।

थककर फाटक की ओर पीठ कर लेता हूँ। जब यह सोचूँगा कि वह देर से आयेगी, तो वह जल्दी आयेगी।

घोड़े की टाप सुन पड़ती है। अपने को रोक लेता हूँ और मुड़कर देखता नहीं।

"बाबा!" पुकार का-सा स्वर। लगा कि दो आँखें मेरी पीठ पर हैं! उठा। बढ़कर मन्नो की ओर देखा, आँखों में न आश्चर्य था, न उत्कण्ठा थी, न उदासीनता ही। बस, मन्नो की ही आँखों की तरह वह दो आँखें मेरी ओर देखती चली गयी थीं।

"बाबा!"

बूढ़ा नौकर लपककर घोड़े के पास आया और लाड़ के से स्वर में बोला,

उतरो बिटिया बहुत देर कर दी। और हाथ आगे बढ़ा दिया।

मन्नो सहारा लेकर नीचे उतरी— तनिक अम्मा को तो बुलाओ बाबा मेरा जी अच्छा नहीं।

सुख तो है बिटिया!

चिन्ता का यह स्वर सुनकर बिटिया जरा सा हँस दी फिर रुककर लम्बी साँस भरकर बोली अच्छी भली हूँ बाबा बड़ी अम्मा से कहो बिछौना लगा दे।

बाबा ने बिटिया के लिए कुर्सी खींच दी। फिर सहमकर पूछा बिटिया लेटोगी?

हाँ बाबा।

इस बार मन्नो ने झिझक से बाबा की ओर देखा नहीं जैसे कोई अपराध बन आया हो फिर मेरी ओर झुककर कहा क्या बहुत देर हुई?

नहीं! —मैं सिर हिलाता हूँ पर आँखें नहीं।

ठहर-कर अधिकार से पूछता हूँ क्या जी अच्छा नहीं?

मन्नो ने पल भर को थकी थकी पलकें मूँद लीं और कुछ बोली नहीं।

बूढ़ी दासी दौड़ी-दौड़ी शाल लिये आयी और कंधों पर ओढ़ाकर जैसे अपने को ही दिलासा देने के लिए कहा बिटिया ख्याली क्यों घबराने लगी! अभी सब ठीक हुआ जाता है। इनके लिए चाय भेजूँ?

मन्नो एकदम कुछ कह नहीं पायी। फिर कुछ सोचकर बोली अम्मा पूछ देखो। पियेंगे तो नहीं।

मैं कुछ ठीक ठीक समझा नहीं। व्यस्त होकर कहा नहीं नहीं मुझे अभी कुछ भी पीना नहीं है।

मन्नो ने जैसे न सुना न मुझे देखा ही।

फिर जैसे अम्मा को मेरे परिचय की गम्भीरता जताने के लिए पूछा चाची तो अच्छी हैं अभी चाचा लौटे तो न होंगे?

बड़ी माँ झट समझ गयी मन्नो की चाची के यहाँ से आया हूँ। बोली बेटा आने की खबर देते तो मन्नो के लिए कुछ मंगवा लेती।

अम्मा अन्दर जाके देखो न मैं थकी हूँ अब बैठूँगी नहीं।

मैं लज्जित-सा बैठा रहा। कुछ फल ही लिये आता।

मन्नो कुछ देर मेरे चेहरे पर मेरा मन पढ़ती रही फिर धीमे से ऐसी बोली मानो मुझे नहीं अपने को कहती है, 'यहाँ न कुछ लाना ही ठीक है न यहाँ से कुछ ले ही जाना

मैं अपनी नासमझी पर पछताकर रह गया।

मन्नो अन्दर चली, तो आप-ही आप मैं भी साथ हो लिया। कम्बल उठाकर बड़ी माँ ने बिटिया को लिटाया, बाल ठीक करते-करते माथे को छुआ और मेरे लिए कुर्सी पास खींचकर बाहर हो गयी।

"मन्नो !··"

मन्नो बोली नहीं। दुबली-सी बाँह तनिक-सी आगे की, और···फिर एकाएक कुछ सोचकर पीछे खींच ली।···

आज जब स्वयं भी मन्नो-सा बन गया हूँ, सौ बार अपने को न्यौछावर कर उसी क्षण को लौटा लेना चाहता हूँ। मैं कुर्सी पर बैठा-बैठा क्यों उस बाँह को छू नहीं सका था? क्यों उस हाथ को सहला नहीं सका था? उमड़ते मन को किसी ने जैसे जकड़कर वहीं, उस कुर्सी पर ठहरा लिया था।

क्या था उस झिझक में? क्या था उस झिझकनेवाले मन में? रहा होगा, यही भय रहा होगा, जो अब मुझसे मेरे प्रियजनों को दूर रखता है। उस रात जब जाने को उठा था, तो आँखों का मोह पीछे बाँधता था, मन का भय आगे खींचता था और जब जल्दी-जल्दी चलकर डाक-बँगले में पहुँच गया, तो लगा कि मुक्त हो गया हूँ, क्षण-क्षण जकड़ने बन्धन से मुक्त हो गया हूँ। उस अभागी रात में जो मुक्ति पायी थी, वह मुझे कितनी फली, चाहता हूँ, आज एक बार मन्नो देखती तो।

रात-भर ठीक से सो नहीं पाया। बार-बार नींद में लगता कि भुवाली में हूँ। भुवाली में सोया हूँ। वही 'पाइन्स' का वही बड़ी खिड़कियोंवाला कमरा है। मन्नो के पलग पर लेटा हूँ और पास पड़ी कुर्सी पर बैठी-बैठी मन्नो अपनी उन्हीं दो आँखों से मुझे निहारती है। मैं हाथ आगे करता हूँ और वह थोड़ा-सा हँसकर सिर हिलाती हुई कहती है, 'नहीं, इसे कम्बल के नीचे कर लो। अब इसे कौन छुएगा?'

मन्नो!

मन्नो कुछ कहती नहीं, हँस-भर देती है। रात भर इन दुःस्वप्नों में भटकने के बाद जगा, तो बुआ दीख पड़ीं—"कुछ हाथ नहीं लगेगा, रवि!"

उस सुबह फिर मैं रुका नहीं, न डाक-बँगले में, न भुवाली में। बस के अड्डे पर पहुँचा, तो धूप में धुली-धुली भुवाली मुझे भयावनी लगी। एक बार जी को टटोला—'पाइन्स' नहीं ··नहीं·· कुछ नहीं·· लौट जाओ।

घर पहुँचकर बुआ मिलीं। कड़ी चेतावनीवाला खिंचा-खिंचा चेहरा था। भरपूर मुझे देखकर जैसे साँस रोके पूछा, "कहाँ थे कल?"

"रानीखेत तक गया था, बुआ!"

'कह तो जाते ।

मैं न जाने किस उलझन में खोया कह गया कहने को बुआ या क्या ?

दोपहर में फूफा मिले । कल लौटे थे और सन्त की तरह गम्भीर थे । खाना खाते उन्हें देखता रहा । एकाएक उन्हें प्लेट पर से आँखें उठाकर बुआ की ओर देखते हुए देखा तो सचमुच मैं जान गया कि फूफा के भाई अवश्य ही मन्नो के पिता होंगे । दृष्टि में वही उद्गार था वही अचंचलता थी ।

फूफा ने खाने पर से उठते उठते उलझे-से स्वर मे मुझस पूछा रवि बुआ तुम्हारी लखनऊ तक जाना चाहती है पहुँचा आ सकोगे ?

जी सकूगा ।

मैं बुआ और बच्चे नैनी से उतर रहे हैं । मैं पीछे की सीट पर बैठा-बैठा विदा हो जाने की आकस्मिकता को सिगरेट के धुए म भूल जाने का प्रयत्न करता हू । चौड मोड से बस नीचे की ओर मुडी । खिडकी से बाहर देखा तो पहाड की हरियाली मे वही कलवानी मुवाली की सफदी दीख रही थी ।

काठगोदाम से लखनऊ । एक रात बुआ की ससुराल रुककर बुआ से विदा लेने गया तो बुआ ने पूछा 'कहाँ जाने की सोच रहे हो रवि कुछ दिन यहीं न रुको !

नहीं बुआ ।

बुआ इस नहीं' को एकाएक स्वीकार नही कर सकी । पास बिठाकर कुछ देर देखती रही । फिर स्नेह स कहा फिर जाओगे कहाँ ?

बुआ कुछ पता न्हीं ।

बुआ कुछ कहना चाहती थीं पर कह नहीं पा रही थी । कुछ रुकते रुकते कहा रवि तुम्हारे फूफा तो तुम्हारे वापस ननी लौटने को कहते थे !

नहीं बुआ ! अब तो दक्खिन जाऊंगा पिताजी के पास ।

बुआ को जैसे विश्वास नही हुआ । कुछ याद-सी करती बोली 'रवि इस बार तुम्हें वहाँ अच्छा नहीं लगा ।

ऐसा नहीं नहीं बुआ ।

बुआ चाहती था मुझस कुछ पूछें । मैं चाहता था बुआ से कुछ कहूं । पर किसी से भी शब्द जुड नही ।

स्टेशन पर आन लगा तो बुआ के पाँव छुए ! बुआ बहुत बडी नही हैं मुझसे । पिताजी की सबसे छोटी मौसेरी बहिन होती हैं पर दिल मे कुछ ऐसा

सा लगा कि बुआ का आशीर्वाद चाहता हूँ।

बुआ हैरान हुई, फिर हसकर बोली, 'रवि, तुमने पांव छुए हैं, तो आशीर्वाद जरूर दूंगी···बहुत सुन्दर बहू पाओ।"

मैं न हँसा, न लजाया। बुआ चुप-सी रह गयी। जिस नटखट भाव से वह कुछ कह गयी थी, उसे मानो अनदेखे सकोच ने घेर लिया।

टिकट लिया, कुली के पास सामान छोड़ प्लेटफार्म पर घूमने लगा। सामने-सामने कोई गाड़ी नहीं थी। लाइनों पर बिछे खालीपन ने उलझे मन को एका-एक खोल दिया। जो कुछ भी सोच रहा था, सोचता चला गया। मन न नुवाली पर अटका, न 'पाइन्स' पर, न मन्नो पर। पिछला सब बीत गया लगा। बुआ का आशीर्वाद कल्पना में मुखर हो आया। घर होगा, घर भी रानी होगी, मैं हूँगा ··

बुआ का आशीर्वाद झूठ नहीं निकला। सच में ही मेरा घर बना। सुन्दर घरनी आयी और उसे मैं ही ब्याह कर लाया। पर उस दिन जहाँ का टिकट ले लिया था, वहाँ की गाड़ी मुझे खींचकर प्लेटफार्म पर से ले जा नहीं सकी।

गाड़ी आ लगी है। कुली सामान लगाता है और मैं बाहर खड़े-खड़े देखता हूँ—मुसाफिर, कुली, सामान, बच्चे, बूढ़े ··

"साहिब, गाड़ी छूटने में दस मिनट हैं।"

मैं अपनी घड़ी देखता हूँ, और सिर हिला देता हूँ कि मैं जानता हूँ।

कुली एक बार फिर अन्दर जाकर असबाब ऊपर-नीचे करता है और सारा ठीक करते हुए बाहर निकलकर कहता है, "हरी बत्ती हो गयी है, साहिब।"

बत्ती की ओर देखता हूँ। और देखता चला जाता हूँ, वही कद है, वही दुबली-पतली देह, वही धुला-धुला-सा चेहरा। वही वही···

आवेश से कहता हूँ, "कुली, सामान उतार लो।"

"साहिब!"

"जल्दी करो, जल्दी।"

कुली फिर मेरे सामान के पास है। टिकट वापिस कर नया ले लिया। स्टेशन से फल के टोकरे बँधवाये, चाय पी और बरेली के लिए गाड़ी में जा बैठा। जहाँ मुझे जाना है, वहीं जाकर रहूँगा। जब मैं ही नहीं रुकता हूँ तो मुझे कौन रोकेगा? क्यों रोकेगा?

घर में आगे लॉन में बैठा सर्दियों की ढलती धूप में अलसा रहा हूँ। अन्दर से

तो ठहर जाओ। बार-बार इनकार करना अच्छा नहीं लगता।

माँ की बात सुनकर मैं सयाने बटे की तरह हसता हूँ और मन ही मन सोचता हूँ कि माँ कितना ठीक कहती है। अपनी नौकरी पर रहता हूँ और अकेले आदमी के खर्च से कहीं अधिक कमाता हूँ फिर क्यों इनकार करूँगा। माँ की आशा के विपरीत बड़ी आवाज मे कहता हूँ माँ जो तुम्हें रुचे वही मुझ भायेगा।

बटा लड़की देखना चाहोगे?

हाँ माँ!

लगा माँ मन ही मन हँसी।

खाने के बाद रात को घूमकर आया तो कमरे में शान्ति थी मन मे शान्ति थी। किसी को देखने के लिए कालेज के दिनोंवाली उतावली जिज्ञासा मन म नहीं रह गयी थी। लगा कि अकेले रहते रहते किसी के सग की आशा नही कर रहा उसे तो अपना अधिकार करके मान रहा हूँ।

हाथ में किताब लेकर रात को लेटा तो पढ़ते-पढ़ते ऊब गया। आँखों के अँधेरे म देखा किसी पहाड पर चढ़ा जा रहा हूँ। दूर चीड के पेड़ो के भुण्ड के भुण्ड दीखते हैं आसमान सब सुनसान है अपनी पद चाप के सिवाय कोई आवाज नही। एकाएक किसी का स्वर गूँजता है इधर उधर और अधेरे में हिलता एक हाथ आगे बढ़ा बढ़ा आता है मेरे गले की ओर निकट और निकट

दुबली कलाई पतली अँगुलियाँ मैं डरता हूँ पीछे हटता हूँ और घबराकर आँखें खोल देता हूँ।

उठा खिडकी का परदा उठाकर बाहर झाँका। लॉन के दाहिने हरी घास पर पिताजी के कमरे की लाइट फैली थी। सँभला! लम्बी साँस लेकर बालो को छुआ तो माथा ठण्डा लगा। भयावना सूनापन और अधेरे मे वह हाथ वह हाथ

मन मे जिसे भूल चुका हूँ उसे आज ही याद क्यों आना था। क्यों याद आना था क्यों दीख जाना था उस हाथ को जो क्यों गये पाइन्स की उतराई से उतरते उतरते मैंने अन्तिम बार देखा था? छुआ था नहीं कहूँगा क्योंकि असख्य बार सोच-सोचकर छू भर लेने के लिए बाँह आगे करना छू लेना नहीं होता।

महीना भर ननी मे रहते हुए बार-बार भुवाली से लौटने के बाद जब अन्तिम बार मैं मन्नो के पास से लौटा था तो लौट लौटकर उस लौटने को न लौटना करना चाहता था। तीन बार नीचे उतरा था और तीन बार मुड़कर ऊपर गया था।

मन्नो शाल में लिपटी आराम-कुर्सी पर अधलेटी थी ! पास खड़े होकर उसकी चुप्पी को जैसे उस पर से उतार देने को उदास स्वर में कहा, "कल तो नैनी से नीचे उतर जाऊँगा।"

मन्नो ने नीचे ऐंठे शाल को सहज-सहज सहेजा। एक महीने पहलेवाली दृष्टि मुख पर लौट आयी। वही पराया-सा देखना, वही दूर-दूर-सा लगता चेहरा…

मन्नो · चाहता हूँ, मन्नो ने कुछ तो कहे, पर क्या कहूँ ? यह कि जल्दी लौटूँगा ··

क्षण क्षण अपने में कहता हूँ, 'आऊँगा, फिर आऊँगा', पर जिस निगाह से मन्नो मुझे देखती है, वह जैसे बिना बोल के यह कहे जा रही है कि 'अब तुम यहाँ नहीं आओगे।'

"मन्नो।"

"रवि।"—और और बस कठिन-सी होकर थोड़ा-सा हँसी और हाथ जोड़ दिये—नमस्कार!

इन जुड़े-जुड़े हाथों को देखता रहा। जरा-सा आगे बढ़ा कि विदा लूँ, विदा दूँ पर न जाने क्यों खड़ा-का-खड़ा रह गया।

समझाने के-से स्वर में मन्नो बोली, "देर होती है, रवि।"

जी भरकर देखनेवाली अपनी आँखों को झुकाकर मैं जल्दी-जल्दी नीचे उतर गया।

मैं फिर लौटूँगा फिर · पर क्या सदा के लिए चला जा रहा हूँ…

मुड़कर पीछे देखा और खिचकर ठिठक गया। मन्नो वहीं उसी मुद्रा में बैठी थी।

मानो वह जानती थी कि लौटूँगा। साथ पड़ी कुर्सी की ओर संकेत कर कहा, 'बैठो, रवि।"—स्वर में न व्यथा थी, न मन छूटने की उदासी थी, न मेरे आने का आश्चर्य था। आँखों-ही-आँखों ने कुछ ऐसा देखा, जैसे पूछती हो—कुछ कहना है क्या ?

मैं अपने को बच्चे की तरह छोटा करके कहता हूँ, "मन्नो, मन नहीं होता जाने को।"

मन्नो कुछ देर तक देखती रहती है। मैं चाहता हूँ, मन्नो कुछ भी कहे, कहे तो ··

एक छोटी-सी साँस जैसे छोटी-से-छोटी घड़ी के लिए उसके गले में अटकी, फिर, फिर घने स्वर में कहा, "एक-न-एक बार तो तुम्हें चले ही जाना है, रवि…"

मैं हाथों से घेरकर उस देह को नहीं तो उस स्वर को छू लेना चाहता हूँ, चूम लेना चाहता हूँ।—"मन्नो!"—आगे बढ़ता हूँ, कुछ रोक लेने की, थाम लेने की मुद्रा में मन्नो दोनों हाथ आगे डाल देती है, बस।

"मन्नो!…" अपना अनुरोध उस तक पहुँचाना चाहता हूँ।

"नहीं!"…इस 'नहीं' के आगे नहीं है और कुछ, नहीं।

मन्नो दुबला-सा हाथ हिलाकर आँखों से मुझे विदा देती है और मैं विवश-सा, व्यर्थ-सा नीचे उतरता हूँ।

आँखों पर धुन्ध-सी उमड आती है, सँभलता हूँ, सँभलता हूँ और एक बार फिर पीछे देखता हूँ।

बिल्कुल ऐसे लगता है कि किनारे पर खड़ा हूँ और किश्ती में बैठी मन्नो बही चली जा रही है। वह मुझे नहीं देखती, नहीं देखती, उसकी आँखों के आगे उसके अपने हाथों की रोक है, अपने हाथों की ओट है।

हाथों पर टिका मन्नो का सिर नीचे झुका है, आँखें शायद बन्द हैं, शायद गीली हैं। उस कड़े आहत अभिमान की बात सोचकर छटपटाता हूँ।

कदम उठाकर फाटक के पास पहुँचा, तो सिसकियाँ सुनकर रुक गया।

मन-ही मन दुहराकर कहा—'मन्नो! मन्नो!'

इसी पुकार को पलटकर जैसे उत्तर आया—'ठहरो नहीं! रुको नहीं!'

सच ही मैं ठहरा नहीं। उतरता चला गया और हर पग के साथ दूर होता चला गया, उस काटेज से, काटेज में रहनेवाली मन्नो से, मन्नो की उन दो आँखों से, पर मन्नो की स्मृति से नहीं। मन्नो की याद मुझे आज भी आती है। आज भी वह याद आती है, वह दुपहरी, जब मन्नो और मैं उस बड़ी झील के किनारे से लगी पगडण्डी पर घूमते रहे थे। मीठा मीठा-सा दिन था। पहली बार उस पीले चेहरे की मिठास के सम्मुख मैं पानी-सा बह गया था। एकटक उन घुँघराले बालों को देखता रह गया था। और देखता गया था शाल में लिपटे उन कन्धों को, जो पैरों की धीमी चाल से थककर भी झुकते नहीं थे।

परिक्रमा का अन्तिम मोड आया, तो बहुत बड़े घने वृक्ष के नीचे देवी के दो छोटे छोटे मन्दिर दिखे। टीन के कपाट बन्द थे। कुछ अधिक न सोचकर आगे बढ़ने को हुआ कि मन्नो को देखकर रुक गया। खड़ी-खड़ी कुछ देर सोचती रही। फिर जूते उतार नंगे पाँव किनारे के पत्थरों से नीचे उतर गयी। बड़े-से पत्थर पर पाँव जमाया और झुककर डण्ठल से कमल तोड वापिस लौट आयी। मैं तो कुछ सोच नहीं रहा था। बस, देखता चला जा रहा था। शाल सिर पर कर लिया था और उन बन्द कपाटों के आगेवाली दहलीज पर फूल रखकर सिर नवा दिया।

मन्दिर के बन्द कपाटों के आगे माथा टेक मन्नो उठी, तो मानो मन्नो-सी नहीं लग रही थी। ऐसे दिखा कि यह झुकी छाया मन्नो नहीं, मन्नो की स्वयं हो गयी दिवशता थी, जिसने भाग्य के इन बन्द कपाटों के आगे माथा टेक दिया था। इस निर्मम अकेलेपन के लिए मन में ढेर-सा दर्द उठ आया। बहते-से स्वर में कहा, 'दर्शन करने का मन हो, मन्नो, तो किसी से पुजारी का स्थान पूछूं?"

मन्नो ने कुछ कहने से पहले स्वर को सँभाला, फिर सिर हिलाकर कहा, "नहीं, रवि, ऐसा कुछ नहीं। मुझे कौन वरदान माँगने हैं! अपने लिए तो कपाट बन्द हो गये हैं। बस, इतना ही चाहती हूँ, यह कपाट उनके लिए खुले रहें, जिनसे बिछुड़कर मैं अलग आ पड़ी हूँ।"

मन्ना को छूने का भय, उसके रोग का भय, जो अब तक मुझे रोकता था, बींधता था, अलग जा पड़ा। झील की ठण्डी हवा में फहराते-से घुंघराले बालों पर झुककर बाँह से घेरते हुए कहा, "मन्नो!..."

मन्नो चौंकी नहीं। कन्धे पर पड़ा हाथ धीरे-से अलग कर दिया और समूची आँखों से देखते हुए बोली, "रवि, जिसे तुम झेल नहीं सकते, उसके लिए हाथ न बढ़ाओ।"

आवाज में न उलाहना था, न व्यंग्य था, न कटुता। बस, जो कहने को था, वही कहा गया था। इस कहने का उत्तर मैं उस दिन नहीं दे पाया। बार-बार मन्नो के पास जाने पर भी नहीं दे पाया और नहीं दे पाया विदा के उन क्षणों में, जब मन्नो को रोता छोड़ मैं अन्तिम बार 'पाइन्स' की उतराई उतरता चला गया था। जिस दुर्बलता से कायर बनकर डरा था, वह आज अपने पर ही बीत गयी है। आज अपने लिए, मन्नो के लिए उस कायरता को कोसता हूँ।

घर में चहल-पहल थी। माँ को सुन्दर बहू मिली, मुझे भली संगिनी। भोलेपन से मुस्कानी मीरा को देखता हूँ, तो कहीं खो जाने को मन चाहता है। लेकिन अब खोऊँगा क्यों? अब तो बँध गया हूँ, बँधा रहूँगा। आस-पास नाते-रिश्ते हैं, मित्र-बन्धु हैं। ब्याहवाले घर के ऊँचे कहकहे सुनकर खुशी से मन उमड़-उमड़ आता है। कैसा आयोजन होता है वह भी। एक दिन जो बात शुरू हो जाती है, उसे सम्पूर्णतया पूर्ण कर दिया जाता है। इतने समूचे मन से ब्याह के सिवाय और क्या होता है, जो सम्पन्न होकर, एक टेक पर, एक विराम पर पहुँच जाता है! तन-मन, घर-द्वार, अन्दर-बाहर सब एक ही प्यार में भीग जाते हैं। कल मीरा को लेकर समुद्र किनारे चला जाऊँगा। महीना-भर रहकर वहाँ के लिए

प्रस्थान करेंगे जहाँ अब तक मैं बेघर सा होकर रहता रहा हूँ।

इस प्रकार, असीम सागर के किनारे एक-दूसरे पर छा छा जाते हम घण्टों घूमते रहे। बीच-बीच में ठहरते और मोहवश एक-दूसरे में छिपे अपने अपने प्यार को चूमते। सुबह शाम, दिन रात कहाँ छिपते कहाँ डूबते, यह हम देख-देखकर भी नहीं देखते थे।

इसके बाद प्रहरों की तरह बीत गये वे दस वर्ष। सग-सग लगे बिछोह से दूर मग्न दिन रात। मीरा और बच्चों से दूर इस काटेज मे पड़ा-पड़ा आज भी पीछे लौटता हूँ तो बहुत निकट से किसी साँस का स्वर सुनता हूँ।

हम कितने सुखी हैं कितने ! चाहता, हूँ किसी की आँखों में देखकर इसका उत्तर दूँ। किसी को छूकर कुछ कहूँ पर सुननेवाला कोई पास नहीं। बच्चों के लिए मीरा ने मेरा मोह छोटा कर लिया।

गये महीने रानीखेत जाते मीरा बच्चों के सग घण्टे भर को यहाँ रुकी थी। बरामदे में लेटे-लेटे उन तीनों को ऊपर आते देखता रहा। फाटक पर पहुँचकर मीरा पल भर को ठिठकी थी। फिर दोनों हाथों से बच्चों को घेरे अन्दर ले आयी।

'मुन्ना रानी, प्रणाम करो बेटा !"

बच्चों के झिझक से बँधे हाथ मेरी ओर उठे।

देखकर कण्ठ भर आया। मेरा भाग्य मुझसे दूर मुझसे अलग जा पड़ा है। मेरे ही बच्चे आश्चर्य की दृष्टि से मुझे देख माँ की आज्ञा का पालन कर रहे हैं।

मीरा जब तक रही, आँखें पोंछती रही। कुछ कहने को कुछ पूछने को उसका स्वर बँधा नहीं। अपने सुन्दर सुकुमार बच्चों को अपने ही डर के कारण पूरी तरह निरख नहीं पाया। केवल मीरा की ओर देखता रहा कि जो आज मुझे मिलने आयी है, उसमें मेरी पत्नी कहाँ है वहाँ है वह, जो सचमुच मे मेरी थी !

भरी आँखों से मीरा की कलाई की घड़ी देखने की निठुराई से आहत हो मैं फटी फटी, रूखी दृष्टि से फाटक की ओर देखने लगा कि मेरा ही परिवार कुछ क्षण में मुझे यहाँ अकेला छोड़, मुझसे दूर चला जायगा। एक बार मन हुआ कि बच्चों को पकड़नेवाली उन दो बाँहों को अपनी ओर खींचकर कहूँ, मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगा नहीं जाने दूँगा। पर बच्चों की छोटी छोटी आँखों का अपरिचय उस आवेश को दूर तक काटता चला गया।

चौंककर देखा मीरा पास आकर झुकी और अधरों से मस्तक छूकर हौले-से पीछे हट गयी। उठ बैठा कि एक बार प्यार दूँ एक बार प्यार लूँ कि हाथों में मुँह छिपा रोते रोते मीरा इन बाँहों से आ लगी।

मीरा की आँखों से भीगी अपनी रोती आँखों को पोछकर आस-पास देखा, तो टूटा बाँध सबकुछ बहा ले गया था। न पास मीरा थी, न बच्चे...

तकियों के सहारे सिर ऊँचा करके देखा, उतराई के तीसरे मोड़ पर तीनों चले जा रहे थे। मीरा मेरी ओर से पीठ मोड़े आगे की ओर झुकी थी, बच्चे एक दूसरे की उँगली पकड़े कभी माँ को देखते होंगे, कभी राह को।

साँस रोके प्रतीक्षा करता रहा, पर किसी ने पीछे नहीं देखा, न मीरा ने, न मेरे बेटे ने केवल छोटी रानी के बालों में गुँथा गुलाबी रिबन देर तक हिल-हिलकर मेरी आँखों से कहता रहा— 'पापा, हम चले गये, पापा, हम चले गये!'

सब ही सब चले गये हैं। इसलिए नहीं कि उन्हें जाना था, इसलिए कि मैं चला जा रहा हूँ। ऐसे ही एक दिन मन्नो के जाने को आँगन में उतराई से उतरता चला गया था। मेरी ही तरह अकेले में मन्नो रोयी थी। अब जान पाया हूँ कि हाथों में मुँह छिपाकर वह रोना, कितना अकेला रोना था। पर इस बार जाकर बरसों मैंने मन्नो की सुधि नहीं ली। जब कभी नींद में देखता वह दुबली देह, बड़ी-बड़ी आँखें और कम्बल पर फैली पतली-पतली बाँहें, तो जागकर उद्वेग से मीरा की ओर बढ़ जाता।

एक बार दौरे पर लखनऊ आया तो बुआ मिलीं। देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद एकाएक स्वर बदल बोलीं, "रवि, मन्नो तो अब नहीं रही।"

"नहीं, बुआ!"—मैं पिता हो जाने के गाम्भीर्य को संभालते कहता हूँ, "नहीं बुआ, नहीं...!"

बुआ जैसे मुझे, वहीं वर्षों पहले के उस रवि को, कहती हैं, "रात को सोयी तो जगी नहीं। अम्मा छुट्टी पर थी। सुबह-सुबह स्यानी अन्दर आया, तो साँस चुक गयी थी।"

मैं रुँधे गले से जैसे कुछ पूछने को कहता हूँ, "बुआ!"

बुआ आँख पोंछती कुछ सोचती रहीं, फिर दर्द से बोलीं, "रवि, एक बार उसे पत्र तो लिखते!"

मैं रूमाल से रुलाई सोखने लगा।

'तुम्हारे नाम का एक पारसल छोड़ गयी थी आलमारी में। खोला, तो ऊर्सी थी।"

दूसरे दिन बुआ के पास फिर आया, तो जल्दी-जल्दी पाँव छूकर कहा, "अच्छा, बुआ!"

"रवि !"—बुआ की वही कलवाली आवाज थी।

मैंने सिर हिलाकर घोर विवशता के-से स्वर में कहा, "हाँन बुआ, नहीं।"

बुआ समझ गयीं, मैं कुछ भी जानना नहीं चाहता हूँ। पर जैसे मन-ही-मन मन्नो के लिए टूटकर बोलीं "यही बार-बार सोचती हूँ कि जिसके प्यार को भी कोई न छू सके, ऐसा दुर्भाग्य उसे क्यों मिला क्यों मिला ?"

लखनऊ से लौटकर मैं कई दिन मन से मन्नो को उतार नहीं पाया। यही देखता कि 'पाइन्स' में कुर्सी पर बैठी वह मेरे लिए जर्सी तैयार कर रही है, वही हाथ हैं, वही दृष्टि है •

और एक दिन साल भर घर में बीमार रहने के बाद मैं भुवाली पहुँच गया। वही चीड की ठण्डी हवाएँ थीं, वही सुहानी धूप थी। वही भुवाली थी और वही मैं था। पर इस बार किसी का पता करने मुझे पोस्ट-आफिस की ओर नहीं जाना था। 'पाइन्स' के सामनेवाले पहाड पर किसी के अभिशाप से बनी काटेज मे पहली बार सोया, तो भर-भर आते कण्ठ से रात भर एक ही नाम पुकारता रहा—'मन्नो ! मन्नो !' आज वह होती, तो मुझे झेल लेती ••

हर रोज सुबह उठते बरामदे से 'पाइन्स' देखता हूँ और मन-ही मन कहता हूँ—'मन्नो ! • मन्नो !'

जिस मीरा को मैंने वर्षों जाना है, वह अब पास-सी नहीं लगती, अपनी-सी नहीं लगती। उसे मैंने छू-छूकर छुआ था, चूम-चूमकर चूमा था, पर मन पर जब मोह और प्यार की उछलन आती है, तो मीरा नहीं, मन्नो की आँखें ही सगी दीखती हैं।

खिडकी के सामने लेटे-लेटे, अकेलेपन से घबराकर जब मैं बाहर देखता हूँ, तो धुन्ध-भरे बादलो के घेरो में घुँघराले बालोंवाला वही चेहरा दीखता है, वही ••

आये दिन दवा के नये बदलते हुए रंग देखकर अब इतना तो जान गया हूँ कि इस छूटते-छूटते तन में मन को बहुत देर भटकना नहीं होगा। एक दिन खिडकी से बाहर देखते-देखते इन्हीं बादलों के घेरे मे समा जाऊँगा। इन्हीं में समा जाऊँगा।

जनवरी, 1955

दादी अम्मा

बहार फिर आ गयी। वसन्त की हल्की हवाएँ पतझर के फीके ओठों को चुपके से चूम गयीं। जाड़े के सिकुड़े सिकुड़े पंख फड़फड़ाये और सर्दी दूर हो गयी। आँगन में पीपल के पेड़ पर नये पात खिल-खिल आये। परिवार के हँसी-खुशी में तैरते दिन-रात मुस्करा उठे। भरा-भराया घर। सँमली-सँवरी-सी सुन्दर सलोनी बहुएँ। चंचलता से खिलखिलाती बेटियाँ। मजबूत बाँहोंवाले युवा बेटे। घर की मालकिन मेहरां अपने हरे-भरे परिवार को देखती है और सुख में भीग जाती है। यह पाँचों बच्चे उसकी उमर-भर की कमाई हैं।

उसे वे दिन नहीं भूलते जब ब्याह के बाद छः वर्षों तक उसकी गोद नहीं भरी थी। उठते-बैठते सास की गम्भीर कठोर दृष्टि उसकी समूची देह को टटोल जाती। रात को तकिये पर सिर डाले-डाले वह सोचती कि पति के प्यार की छाया में लिपटे-लिपटे भी उसमें कुछ व्यर्थ हो गया है, असमर्थ हो गया है। कभी सकुचाती-सी ससुर के पास से निकलती तो लगता कि इस घर की देहरी पर पहली बार पाँव रखने पर जो आशीष उसे मिली थी, वह उसे सार्थक नहीं कर पायी। वह ससुर के चरणों में झुकी थी और उन्होंने सिर पर हाथ रखकर कहा था, 'बहूरानी, फूलो-फलो।" कभी दर्पण के सामने खड़ी-खड़ी वह बाँहें फैलाकर देखती—क्या इन बाँहों में अपने उपजे किसी नन्हे-मुन्ने को भर लेने की क्षमता नहीं!

छः वर्षों की लम्बी प्रतीक्षा के बाद सर्दियों की एक लम्बी रात में करवट बदलते-बदलते मेहरां को पहली बार लगा था कि जैसे नर्म-नर्म लिहाफ से वह सिकुड़ी पड़ी है, वैसे ही उसमें, उसके तन-मन-प्राण के नीचे गहरे कोई धड़कन उससे लिपटी आ रही है। उसने अँधियारे में एक बार सोये हुए पति की ओर

देखा था और अपने से लजाकर अपने हाथों से आँखें ढाँप ली थी। बन्द पलकों के अन्दर से दो चमकती आँखें थीं, दो नन्हे-नन्हे हाथ थे, दो पाँव थे। सुबह उठकर किसी मीठी शिथिलता में घिरे-घिरे अँगड़ाई ली थी। आज उसका मन भरा है। तन भरा है। सास ने भाँपकर प्यार बरसाया था

"बहू, अपने को थकाओ मत, जो सहज-सहज कर सको, करो। बाकी मैं सँभाल लूँगी।"

वह कृतज्ञता से मुस्करा दी थी। काम पर जाते पति को देखकर मन में आया था कि कहे—'अब तुम मुझसे अलग बाहर हो नहीं, मेरे अन्दर भी हो।'

दिन में सास आ बैठी, माथा सहलाते-सहलाते बोली, "बहूरानी, भगवान मेरे बच्चे को तुम-सा रूप दे और मेरे बेटे-सा जिगरा।"

बहू की पलकें झुक आयीं।

"बेटी, उस मालिक का नाम लो, जिसने बीज डाला है। वह फल भी देगा।"

मेहराँ को माँ का घर याद हो आया। पास पड़ोस की स्त्रियों के बीच माँ भाभी का हाथ आगे कर कह रही है, "बाबा, यह बताओ, मेरी बहू के भाग्य में कितने फल हैं?"

पास खड़ी मेहराँ समझ नहीं पायी। हाथ में फल?

'माँ, हाथ में फल कब होते हैं? फल किसे कहती हो माँ?"

माँ लड़की की बात सुनकर पहले हँसी, फिर गुस्सा होकर बोली, "दूर हो मेहराँ, जा, बच्चों के संग खेल!"

उस दिन मेहराँ का छोटा-सा मन यह समझ नहीं पाया था, पर आज तो माँ की बात वह समझ ही नहीं, बूझ भी रही थी।

बहू के हाथ में फल होते हैं, बहू के भाग्य में फल होते हैं और परिवार की बेल बढ़ती है।

मेहराँ की गोद से इस परिवार की बेल बढ़ी है। आज घर में तीन बेटे हैं, उनकी बहूएँ हैं। ब्याह देने योग्य दो बेटियाँ हैं। हल्के-फुल्के कपड़ों में लिपटी उसकी बहुएँ जब उसके सामने झुकती हैं तो क्षण-भर के लिए मेहराँ के मस्तक पर घर की स्वामिनी होने का अभिमान उभर आता है। वह बैठे-बैठे उन्हें आशीष देती है और मुस्कराती है। ऐसे ही, बिल्कुल ऐसे ही वह भी कभी सास के सामने झुकती थी। आज तो वह सीधी निगाहवाली मालकिन, बच्चों की दादी अम्मा बनकर रह गयी है। पिछवाड़े के कमरे से जब दादा के साथ बोलती हुई अम्मा की आवाज़ आती है तो पोते क्षण-भर ठिठककर अनसुनी कर देते हैं।

बहुएँ एक-दूसरे को देखकर मन-ही-मन हँसती हैं। लाडली बेटियाँ सिर हिला-हिलाकर खिलखिलाती हुई कहती हैं, "दादी अम्मा बूढ़ी हो आयी, पर दादा से झगड़ना नहीं छोड़ा।"

मेहरा भी कभी-कभी पति के निकट खड़ी हो कह देती है, "अम्मा नाहक बापू के पीछे पड़ी रहती हैं। बहू-बेटियोंवाला घर है, क्या यह अच्छा लगता है?"

पति एक बार पढ़ते-पढ़ते आँखें ऊपर उठाते हैं। पल-भर पत्नी की ओर देख दोबारा पन्ने पर दृष्टि गड़ा देते हैं। माँ की बात पर पति की मौन-गम्भीर मुद्रा मेहरा को नहीं भाती। लेकिन प्रयत्न करने पर भी वह कभी पति को कुछ कह देने तक खींच नहीं पायी। पत्नी पर एक उड़ती निगाह, और बस। किसी को आज्ञा देती मेहरा की आवाज सुनकर कभी उन्हें भ्रम हो आता है। वह मेहरा का नहीं, अम्मा का ही रोबीला स्वर है। उनके होश में अम्मा ने कभी ढीलापन जाना ही नहीं। याद नहीं आता कि कभी माँ के कहने को वह जाने अनजाने टाल सके हों। और अब जब माँ की बात पर बेटियों को हँसती सुनते हैं तो विश्वास नहीं आता। क्या सचमुच माँ आज ऐसी बातें किया करती हैं कि जिन पर बच्चे हँस सकें।

और अम्मा तो सचमुच उठते-बैठते बोलती है, झगड़ती है, झुकी कमर पर हाथ रखकर वह चारपाई से उठकर बाहर आती है तो जो सामने हो उस पर बरसने लगती है।

बड़ा पोता काम पर जा रहा है। दादी अम्मा पास आ खड़ी हुईं। एक बार ऊपर-तले देखा और बोलीं, "काम पर जा रहे हो बेटे, कभी दादा की ओर भी देख लिया करो, कब से उनका जी अच्छा नहीं। जिसके घर में भगवान के दिये बेटे-पोते हों, वह इस तरह बिना दवा-दारू पड़े रहते हैं।"

बेटा दादी अम्मा की नजर बचाता है। दादा की खबर क्या घर-भर में उसे ही रखनी है! छोड़ो, कुछ-न-कुछ कहती ही जायेंगी अम्मा, मुझे देर हो रही है। लेकिन दादी अम्मा जैसे राह रोक लेती है, "अरे बेटा, कुछ तो लिहाज करो, बहू-बेटेवाले हुए, मेरी बात तुम्हें अच्छी नहीं लगती!"

मेहरा मँझली बहू से कुछ कहने जा रही थी, लौटती हुई बोली, "अम्मा, कुछ तो सोचो, लड़का बहू-बेटोंवाला है। तो क्या उस पर तुम इस तरह बरसती रहोगी?"

दादी अम्मा ने अपनी पुरानी निगाह से मेहरा को देखा और जलकर कहा, "क्यों नहीं बहू, अब तो बेटों को कुछ कहने के लिए तुमसे पूछना होगा! यह

बेटे तुम्हारे हैं, घर-बार तुम्हारा है, हुक्म हासिल तुम्हारा है।"

मेहरी पर इस सबका कोई असर नहीं हुआ। सास को वहीं खड़ा छोड़ वह बहू के पास चली गयी।

दादी अम्मा ने अपनी पुरानी आंखों से बहू की वह रोबीली चाल देखी और ऊंचे स्वर में बोली, "बहूरानी, इस घर में अब मेरा इतना-सा मान रह गया है! तुम्हें इतना घमण्ड!"

मेहरी को सास के पास लौटने की इच्छा नहीं थी, पर घमण्ड की बात सुनकर लौट आयी।

"मान की बात करती हो अम्मा? तो आये दिन छोटी-मोटी बात लेकर जलने-कलपने से किसी का मान नहीं रहता।"

इस उलटी आवाज़ ने दादी अम्मा को और जला दिया। हाथ हिला-हिलाकर क्रोध में रुक-रुककर बोली, "बहू, यह सब तुम्हारे अपने सामने आयेगा! तुमने जो मेरा जीना दूभर कर दिया है, तुम्हारी तीनों बहुएं भी तुम्हें इसी तरह समझेंगी, समझेंगी क्यों नहीं, जरूर समझेंगी।"

कहती-कहती दादी अम्मा झुकी कमर से पग उठाती अपने कमरे की ओर चल दीं। राह में बेटे के कमरे का द्वार खुला देखा तो बोली, "जिस बेटे को मैंने अपना दूध पिलाकर पाला, आज उसे देखे मुझे महीनों बीत जाते हैं, उससे इतना नहीं हो पाता कि बूढ़ी अम्मा की सुधि ले।"

मेहरी मंझली बहू को घर के काम-धन्धे के लिए आदेश दे रही थी। पर कान इधर ही थे। 'बहुएं उसे भी समझेंगी' इस अभिशाप को वह कड़वा घूंट समझकर पी गयी थी, पर पति के लिए सास का यह उलाहना सुनकर न रहा गया। दूर से ही बोली,"अम्मा, मेरी बात छोड़ो, पराये घर की हूँ, पर जिस बेटे को घर-भर में सबसे अधिक तुम्हारा ध्यान है, उसके लिए यह कहते तुम्हें झिझक नहीं आती? फिर कौन मां है, जो बच्चों को पालती-पोसती नहीं!"

अम्मा ने अपनी झुर्रियों-पड़ी गर्दन पीछे की। माथे पर पड़े तेवरों में इस बार क्रोध नहीं भर्त्सना थी। चेहरे पर वही पुरानी उपेक्षा लौट आयी, "बहू, किससे क्या कहा जाता है, यह तुम बड़े समधियों से आया लगा सबकुछ भूल गयी हो। मां अपने बेटे से क्या कहे, यह भी क्या अब मुझे बेटे की बहू से ही सीखना पड़ेगा? सच कहती हो बहू, सभी माएं बच्चों को पालती हैं। मैंने कोई अनोखा बेटा नहीं पाला था, बहू! फिर तुम्हें तो मैं परायी बेटी ही करके मानती रही हूं। तुमने बच्चे आप जने, आप ही वे दिन काटे, आप ही बीमारियां झेलीं!"

मेहरां ने खड़े-खड़े चाहा कि सास यह कुछ कहकर और कहतीं। वह इतनी दूर नहीं उतरी कि इन बातों का जवाब दे। चुपचाप पति के कमरे में जाकर इधर-उधर बिखरे कपड़े सहेजने लगी।

दादी अम्मा कड़वे मन से अपनी चारपाई पर जा पड़ीं। बुढ़ापे की उम्र भी कैसी होती है! जीते-जी मन से सब टूट जाता है। कोई पूछता नहीं, जानता नहीं। घर के पिछवाड़े जिसे वह अपनी चलती उम्र में कोठरी कहा करती थी, उसी में आज वह पति के साथ रहती है। एक कोने में उनकी चारपाई है और दूसरे कोने में पति की, जिसके साथ उसने अगणित बहार और पतझार गुज़ार दिये हैं। कभी घण्टों वे चुपचाप अपनी अपनी जगह पर पड़े रहते हैं। दादी अम्मा बीच-बीच में करवट बदलते हुए लम्बी सांस लेती है। कभी पतली नींद में पड़ी-पड़ी वर्षों पहले की कोई भूली-बिसरी बात करती है, पर बच्चों के दादा उसे सुनते नहीं। दूर कमरों में बहुओं की मीठी दबी-दबी हँसी वैसे ही चलती रहती है। बेटियां खुले-खुले खिलखिलाती हैं। बेटों के कदमों की भारी आवाज़ कमरे तक आकर रह जाती है और दादी अम्मा और पास पड़े दादा में जैसे बीत गये वर्षों की दूरी भूलती रहती है।

आज दादा जब घण्टों धूप में बैठकर अन्दर आये तो अम्मा लेटी नहीं, चारपाई की बांह पर बैठी थी। गाढ़े की धोती से पूरा तन नहीं ढका था। पल्ला कन्धे से गिरकर एक ओर पड़ा था। वक्ष खुला था। आज वक्ष में ढकने को रह भी क्या गया था? गले और गर्दन की झुर्रियां एक जगह आकर इकट्ठी हो गयी थीं। पुरानी छाती पर कई तिल चमक रहे थे। सिर के बाल उदासीनता से माथे के ऊपर सटे थे।

दादा ने देखकर भी नहीं देखा। अपने-सा पुराना कोट उतारकर खूंटी पर लटकाया और चारपाई पर लेट गये। दादी अम्मा देर तक बिना हिले-डुले वैसी-की-वैसी बैठी रही। सीढ़ियों पर छोटे बेटे के पांवों की उतावली-सी आहट हुई। उमग की छोटी-सी गुनगुनाहट द्वार तक आकर लौट गयी। ब्याह के बाद के वे दिन, मीठे मधुर दिन। पांव बार बार घर की ओर लौटते हैं। प्यार-सी बहू आंखों में प्यार भर-भरकर देखती है, लजाती है, सकुचाती है और पति की बांहों में लिपट जाती है। अभी कुछ महीने हुए, यही छोटा बेटा माथे पर फूलों का सेहरा लगाकर ब्याहने गया था। बाजे-गाजे के साथ जब लौटा तो संग में दुलहिन थी। सबके साथ दादी अम्मा ने भी पतोहू का माथा चूमकर उसे हाथ का कंगन दिया था। पतोहू ने झुककर दादी अम्मा के पांव छुए थे और अम्मा लेन-देन पर मेहरां से लड़ाई-झगड़े की बात भूलकर कई क्षण दुलहिन के मुखड़े की

ओर देखती रही थी। छोटी बेटी ने चंचलता से परिहास कर कहा था, "दादी अम्मा, सच कहो भैय्या की दुलहिन तुम्हें पसन्द आयी ? क्या तुम्हारे दिनों में भी शादी-ब्याह में ऐसे ही कपड़े पहने जाते थे ?"

कहकर छोटी बेटी ने दादी के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। हँसी-हँसी में किसी ओर से उलझ पड़ी।

मेहरी बहू-बेटे को घेरकर अन्दर ले चली। दादी अम्मा भटकी-भटकी दृष्टि से अगणित चेहरे देखती रही। कोई पास-पड़ोसिन उसे बधाई दे रही थी—"बधाई है अम्मा, सोने-सी बहू आयी है। शुक्र है उस मालिक का, तुमने अपने हाथों छोटे पोते का भी काज सँवारा।"

अम्मा ने सिर हिलाया। सचमुच आज उस-जैसा कौन है! पोती की उसे हौंस थी आज पूरी हुई। पर काज सँवारने में उसने क्या किया, किसी ने कुछ पूछा नहीं तो करती क्या ? समधियों से बातचीत, लेन देन, दुलहिन के कपड़े-गहने, यह सब मेहरी के अभ्यस्त हाथों से होता रहा है। घर में पहले दो ब्याह हो जाने पर अम्मा से सलाह-सम्मति करना भी आवश्यक नहीं रह गया। केवल कभी-कभी कोई नया गहना गढ़वाने पर या नया जोड़ा बनवाने पर मेहरी उसे सास को दिखा देती रही है।

बड़ी बेटी देखकर कहती है, "माँ! अम्मा को दिखाने जाती हो, वह तो कहेंगी, 'यह गले का गहना हाथ लगाते उड़ता है। कोई भारी ठोस कण्ठा बनवाओ, सिर की सिंगार-पट्टी बनवाओ। मेरे अपने ब्याह में मायके से पचास तोले का रानीहार चढ़ा था। तुम्हें याद नहीं, तुम्हारे ससुर को कहकर उन्हीं के भारी जड़ाऊ कंगन बनवाये थे तुम्हारे ब्याह में!'"

मेहरी बेटी की ओर लाड़ से देखती है। लड़की झूठ नहीं कहती। बड़े बेटों की सगाई में, ब्याह में, अम्मा बीसियों बार यह दोहरा चुकी हैं। अम्मा को कौन समझाये कि ये पुरानी बातें पुराने दिनों के साथ गयीं!

अम्मा नाते रिश्तों की भीड़ में बैठी-बैठी ऊँघती रही। एकाएक आँख खुली तो नीचे लटकते पल्ले से सिर ढक लिया। ऐसी बेखबरी कि उघाड़े सिर बैठी रही। पर दादी अम्मा को इस तरह अपने को सँभालते किसी ने देखा तक नहीं। अम्मा की ओर देखने की सुधि भी किसे है ?

बहू को नया जोड़ा पहनाया जा रहा है। रोशनी में दुलहिन शरमा रही है। ननदें हास-परिहास कर रही हैं। मेहरी घर में तीसरी बहू को देखकर मन-ही मन

सोच रही है कि बस, अब दोनों बेटियों को ठिकाने लगा दे तो सुर्खरू हो।

बहू का शृंगार देख दादी अम्मा बीच-बीच में कुछ कहती हैं, "लड़कियों में यह कैसा चलन है आजकल ? बहू के हाथों और पैरों में मेहँदी नहीं रचायी। यही तो पहला सगुन है।" दादी अम्मा की इस बात को जैसे किसी ने सुना नहीं। साज-शृंगार में चमकती बहू को घेरकर मेहरां दूल्हे के कमरे की ओर ले चली। नाते-रिश्ते की युवतियाँ मुस्करा-मुस्कराकर शरमाने लगीं, दूल्हे के मित्र-भाई आँखों में नहीं, बाँहों में नये नये चित्र भरने लगे, और मेहरां बहू पर आशीर्वाद बरसाकर लौटी तो देहरी के संग लगी दादी अम्मा को देखकर स्नेह जताकर बोली, "आओ अम्मा, शुक्र है भगवान का, आज ऐसी मीठी घड़ी आयी।"

अम्मा सिर हिलाती हिलाती मेहरां के साथ हो ली, पर आँखें जैसे वर्षों पीछे घूम गयी। ऐसे ही एक दिन वह मेहरां को अपने बेटे के पास छोड़ आयी थी। वह अन्दर जाती थी, बाहर आती थी। वह इस घर की मालकिन थी।

पीछे, और पीछे —

बाजे गाजे के साथ उसका अपना डोला इस घर के सामने आ खड़ा हुआ। गहनों की छनकार करती वह नीचे उतरी। घूँघट की ओट से मुस्कराती, नीचे झुकती और पति की बूढ़ी फूफी से आशीर्वाद पाती।

दादी अम्मा को ऊँघते देख बड़ी बेटी हिलाकर कहने लगी, "उठो अम्मा, जाकर सो रहो, यहाँ तो अभी देर तक हँसी-ठट्ठा होना रहेगा।"

दादी अम्मा झंपी-झंपी आँखों से पोती की ओर देखती है और झुकी कमर पर हाथ रखकर अपने कमरे की ओर लौट जाती है।

उस दिन अपनी चारपाई पर लेटकर दादी अम्मा सोयी नहीं। आँखों में न ऊँघ थी, न नींद। एक दिन वह भी दुलहिन बनी थी। बूढ़ी फूफी ने सजाकर उसे भी पति के पास भेजा था। तब क्या उसने यह कोठरी देखी थी ? ब्याह के बाद वर्षों तक उसने जैसे यह जाना ही नहीं कि फूफी दिन भर काम करने के बाद रात को यहाँ सोती है। आँखें मुँद जाने से पहले जब फूफी बीमार हुई तो दादी अम्मा ने कुलीन बहू की तरह उसकी सेवा करते-करते पहली बार यह जाना था कि घर में इतने कमरे होते हुए भी फूफी इस पिछवाड़े में अपने अन्तिम दिन-बरस काट गयी है। पर यह देखकर, जानकर उसे आश्चर्य नहीं हुआ था। घर के पिछवाड़े में पड़ी फूफी की देह छाँहदार पेड़ के पुराने तने की तरह लगती थी, जिसके पत्तों की छाँह उससे अलग, उससे परे, घर-भर पर फैली हुई थी। आज तो दादी अम्मा स्वयं फूफी बनकर इस कोठरी में पड़ी है। ब्याह के कोलाहल से निकलकर जब दादा थककर अपनी चारपाई पर लेटे तो एक लम्बा चैन

का सा साँस लेकर बोले, "क्या सो गयी हो ? इस बार की रौनक, लेन-देन तो मँझले और बड़े बेटे के ब्याह को भी पार कर गयी। समधियों का बड़ा घर ठहरा।"

दादी अम्मा लेन-देन की बात पर कुछ कहना चाहते हुए भी नहीं बोली। चुपचाप पड़ी रही। दादा सो गये, आवाजें धीमी हो गयीं। बरामदे में मेहरां का रोबीला स्वर नौकर-चाकरों को सुबह के लिए आज्ञाएँ देकर मौन हो गया। दादी अम्मा पड़ी रही और पतली नींद से घिरी आँखों से नये-पुराने चित्र देखती रही। एकाएक करवट लेते-लेते उठ बैठीं। रोशनी अभी बुझी नहीं थी। हल्के-हल्के दो-चार कदम उठाये और दादा की चारपाई के पास आ खड़ी हुई। झुककर कई क्षण तक दादा की ओर देखती रही। दादा नींद में बेखबर थे और दादी जैसे कोई पुरानी पहचान कर रही हो। खड़े-खड़े कितने पल बीत गये! क्या दादी ने दादा को पहचाना नहीं? चेहरा उसके पति का है पर दादी तो इस चेहरे को नहीं, चेहरे के नीचे पति को देखना चाहती है। उसे बिछुड़े गये वर्षों में से वापस लौटा लेना चाहती है।

सिरहाने पर पड़ा दादा का सिर बिल्कुल सफ़ेद था। बन्द आँखों से लगी झुर्रियाँ-ही-झुर्रियाँ थीं। एक सूखी बाँह कम्बल पर सिकुड़ी-सी पड़ी थी। यह नहीं · यह तो नहीं दादी अम्मा जैसे सोते-सोते जाग पड़ी थी, वैसे ही इस भूले-भटके भँवर में ऊपर-नीचे होती चारपाई पर जा पड़ीं।

उस दिन सुबह उठकर जब दादी अम्मा ने दादा को बाहर जाते देखा तो लगा कि रात-भर की भटकी-भटकी तस्वीरों में से कोई भी तस्वीर उसकी नहीं थी। वह इस सूखी देह और झुके कन्धे में से किसे ढूँढ रही थी?

दादी अम्मा चारपाई की बाँहों से उठी और लेट गयी। अब तो इतनी-सी दिनचर्या शेष रह गयी है। बीच-बीच में कभी उठकर बहुओं के कमरों की ओर जाती है तो लड़-झगड़कर लौट आती है। कैसे हैं उसके पोते जो उम्र के रंग में किसी की बात नहीं सोचते? किसी की ओर नहीं देखते? बहू और बेटा, उन्हें भी कहाँ फ़ुरसत है? मेहरां तो कुछ-न-कुछ कहकर चोट करने से भी नहीं चूकती। लड़ने को तो दादी भी कम नहीं, पर अब तीखा-तेज बोल लेने पर जैसे वह थककर चूर-चूर हो जाती है। बोलती है, बोलने के बिना रह नहीं पाती, पर बाद में घण्टों बैठी सोचती रहती है कि वह क्यों उनसे माया लगाती है, जिन्हें उसकी परवा नहीं। मेहरां की तो अब चाल-ढाल ही बदल गयी है। अब वह उसकी बहू नहीं, तीन बहुओं की सास है। ठहरी हुई गम्भीरता से घर का शासन चलाती है। दादी अम्मा का बेटा अब अधिक दौड़-धूप नहीं करता।

देवरेख से अधिक अब बहुओं द्वारा ससुर का आदर-मान ही अधिक होता है। कभी अन्दर-बाहर जाते अम्मा मिल जाती है तो झुककर बेटा माँ को प्रणाम अवश्य करता है। दादी अम्मा गर्दन हिलाती-हिलाती आशीर्वाद देती है, "जीयो बेटा, जीयो।"

कभी मेहराँ की जली-कटी बातें सोच बेटे पर क्रोध और अभिमान करने को मन होता है, पर बेटे को पास देखकर दादी अम्मा सब भूल जाती है। ममता-भरी पुरानी आँखों से निहारकर बार-बार आशीर्वाद बरसाती चली जाती है, "सुख पाओ, भगवान बड़ी उम्र दे।" कितना गम्भीर और शीलवान् है उसका बेटा! है तो उसका न? पोतो को ही देखो, कभी झुककर दादा के पाँव तक नही छूते। आखिर माँ का असर कैसे जायेगा? इन दिनों बहू की बात सोचते ही दादी अम्मा को लगता है कि अब मेहराँ उसके बेटे मे नहीं, अपने बेटों मे लगी रहती है। दादी अम्मा को वे दिन भूल जाते हैं जब बेटे के ब्याह के बाद बहू-बेटे के लाड-चाव मे उसे पति के खाने-पीने की सुधि तक न रहती थी और जब लाख-लाख शुक्र करने पर पहली बार मेहराँ की गोद भरनेवाली थी तो दादी अम्मा ने आकर दादा से कहा था, 'बहू के लिए अब यह कमरा खाली करना होगा। हम लोग फूफी के कमरे में जा रहेंगे।"

दादा ने एक बार भरपूर नजरों से दादी अम्मा की ओर देखा था, जैसे वह बीत गये वर्षों को अपनी दृष्टि से टटोलना चाहते हो। फिर सिर पर हाथ फेरते-फेरते कहा था, "क्या बेटेवाला कमरा बहू के लिए ठीक नही? नाहक क्यो यह सबकुछ उलटा-सीधा करवाती हो?"

दादी अम्मा ने हाथ हिलाकर कहा, "ओह हो, तुम समझोगे भी! बेटे के कमरे मे बहू को रखूँगी तो बेटा कहाँ जायेगा? उलटे-सीधे की फ़िक्र तुम क्यों करते हो, मैं सब ठीक कर लूँगी।"

और पत्नी के चले जाने पर दादा बहुत देर बैठे-बैठे भारी मन से सोचते रहे थे कि जिन वर्षों का बीतना उन्होंने आज तक नहीं जाना, उन्ही पर पत्नी की आशा विराम बनकर आज खडी हो गयी है। आज सचमुच ही उसे इस उलटफेर की परवा नही।

इस कमरे मे बडी फूफी उनकी दुलहिन को छोड गयी थी। उस कमरे को छोडकर आज वह फूफी के कमरे मे जा रहे हैं। क्षण-भर के लिए, केवल क्षण-भर के लिए उन्हें बेटे से ईर्ष्या हुई और उदासीनता में बदल गयी। और पहली रात जब वह फूफी के कमरे मे सोये तो देर गये तक भी पत्नी बहू के पास से नहीं लौटी थी। कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद उनकी पलकें झँपीं तो उन्हें लगा कि उनके

पास पत्नी का नहीं'''फूफी का हाथ है। दूसरे दिन मेहरी की गोद भरी थी, बेटा हुआ था। घर की मालकिन पति की बात जानने के लिए बहुत अधिक व्यस्त थी।

कुछ दिन से दादी अम्मा का जी अच्छा नहीं। दादा देखते हैं, पर बुढ़ापे की बीमारी से कोई दूसरी बीमारी बड़ी नही होती। दादी अम्मा बार-बार करवट बदलती है और फिर कुछ-कुछ देर के लिए हाँफकर पड़ी रह जाती है। दो-एक दिन से वह रसोईघर की ओर भी नहीं आयी, जहाँ मेहरी का आधिपत्य रहते हुए भी वह कुछ-न-कुछ नौकरों को सुनाने में चूकती नहीं है। आज दादी को न देखकर छोटी बेटी हँसकर मँझली भाभी से बोली, "भाभी, दादी अम्मा के पास अब शायद कोई लड़ने-झगड़ने की बात नहीं रह गयी, नहीं तो अब तक कई बार चक्कर लगातीं।"

दोपहर को नौकर जब अम्मा के यहाँ से अनछुई थाली उठा लाया तो मेहरी का माथा ठनका। अम्मा के पास जाकर बोली, "अम्मा, कुछ खा लिया होता, क्या जी अच्छा नहीं?"

एकाएक अम्मा कुछ बोली नही। क्षण-भर रुककर आँखें खोलीं और मेहरी को देखती रह गयी।

'खाने को मन न हो तो अम्मा दूध ही पी लो।"

अम्मा ने 'हाँ'-'नां' कुछ नहीं की। न पलकें ही झपकीं। इस दृष्टि से मेहरी बहुत वर्षों के बाद आज फिर डरी। इसमें न क्रोध था, न सास की तरेर थी, न मनमुटाव था। एक लम्बा गहरा उलाहना—पहचानते मेहरी को देर नहीं लगी। डरते-डरते सास के माथे को छुआ। ठण्डे पसीने से भीगा था। पास बैठकर धीरे-से स्नेह-भरे स्वर में बोली, "अम्मा, जो कहो, बना लाती हूँ।"

अम्मा ने सिरहाने पर पड़े-पड़े सिर हिलाया—नहीं, कुछ नहीं—और बहू के हाथ से अपना हाथ खींच लिया।

मेहरी पल-भर कुछ सोचती रही और बिना आहट किये बाहर हो गयी। बड़ी बहू के पास जाकर चिन्तित स्वर में बोली, "बहू, अम्मा कुछ अधिक बीमार लगती हैं, तुम जाकर पास बैठो तो मैं कुछ बना लाऊँ।"

बहू ने सास की आवाज में आज पहली बार दादी अम्मा के लिए घबराहट देखी। दबे पाँव जाकर अम्मा के पास बैठ हाथ-पाँव दबाने लगी। अम्मा ने इस बार हाथ नहीं खींचे। ढीली-सी लेटी रही।

मेहरी ने रसोईघर में जाकर दूध गर्म किया। औटाने लगी तो एकाएक हाथ

अटक गया—क्या अम्मा के लिए यह अन्तिम बार दूध लिये जा रही है ?

दादी अम्मा ने बेसबरी में ही दो-चार घूंट दूध पीकर छोड़ दिया। चारपाई पर पड़ी अम्मा चारपाई के साथ लगी दीखती थीं। कमरे में कुछ अधिक सामान नहीं था। सामने के कोने में दादा का बिछौना बिछा था।

शाम को दादा आये तो अम्मा के पास बहू और पतोहू को बैठे देख पूछा, "अम्मा तुम्हारी रूठकर लेटी है या···?"

मेहराँ ने अम्मा की बाँह आगे कर दी। दादा ने छूकर हौले-से कहा, "जाओ बहू, बेटा आता ही होगा। उसे डाक्टर को लिवाने भेज देना।"

मेहराँ ससुर के शब्दों की गम्भीरता जानते हुए चुपचाप बाहर हो गयी।

बेटे के साथ जब डाक्टर आया तो दादी अम्मा के तीनों पोते भी पास आ खड़े हुए। डाक्टर ने सधे-सधाये हाथों से दादी की परीक्षा की। जाते-जाते दादी के बेटे से कहा, "कुछ ही घण्टे और ।"

मेहराँ ने बहुओं को धीमे स्वर में आज्ञाएँ दीं और बेटों से बोली, "बारी-बारी से खा-पी लो, फिर पिता और दादा को भेज देना।"

अम्मा के पास से हटने की पिता और दादा की बारी नहीं आयी उस रात। दादी ने बहुत जल्दी की। डूबते-डूबते हाथ-पाँवों से छटपटाकर एक बार आँखें खोलीं और बेटे और पति के आगे बाँहें फैला दीं। जैसे कहती हो—'मुझे तुम पकड़ रखो।'

दादी का श्वास उखड़ा दादा का कण्ठ जकड़ा और बेटे ने माँ पर झुककर पुकारा, "अम्मा,·· अम्मा।"

"सुन रही हूँ बेटा, तुम्हारी आवाज़ पहचानती हूँ।"

मेहराँ सास की ओर बढ़ी और ठण्डे हो रहे पैरों को छूकर याचना-भरी दृष्टि से दादी अम्मा को बिछुरती आँखों से देखने लगी। बहू को रोते देख अम्मा की आँखों में क्षण-भर को सन्तोष झलका, फिर वर्षों की लड़ाई-झगड़े का आभास उभरा। द्वार से लगी तीनों पोतों की बहुएँ खड़ी थीं। मेहराँ ने हाथ से संकेत किया। बारी-बारी दादी अम्मा के निकट तीनों झुकीं। अम्मा की पुतलियों में जीवन-भर का मोह उतर गया। मेहराँ से उलझा कड़वापन ढीला हो गया। चाहा कि कुछ कहे ''कुछ''' पर छूटते तन से दादी अम्मा ओठों पर कोई शब्द नहीं खींच पायी।

'अम्मा, बहुओं को आशीष देती जाओ···।" मेहराँ के गीले कण्ठ में आग्रह था, विनय थी।

अम्मा ने आँखों के झिलमिलाते पर्दे में से अपने पूरे परिवार की ओर देखा

—बेटा''' बहू'''पति'''पोते-पतोहू'''पोतियाँ । छोटी पतोहू की गुलाबी ओढ़नी जैसे दादी के तन-मन पर बिखर गयी । उस ओढ़नी से लगे गोरे-गोरे लाल-लाल बच्चे, हँसते-खेलते, भोली किलकारियाँ''' ।

दादी अम्मा की धुँधली आँखों में से और सब मिट गया, सब पुँछ गया, केवल ढेर-से अगणित बच्चे खेलते रह गये''' !

उसके पोते, उसके बच्चे '' ।

पिता और पुत्र ने एक साथ देखा, अम्मा जैसे हल्के-से हँसी, हल्के-से'' ।

मेहराँ को लगा, अम्मा बिल्कुल वैसे हँस रही है जैसे पहली बार बड़े बेटे के जन्म पर वह उसे देखकर हँसी थी । समझ गयी—बहुओं को आशीर्वाद मिल गया ।

दादा ने अपने सिकुड़े हाथ में दादी का हाथ लेकर आँखों से लगाया और बच्चों की तरह बिलख-बिलखकर रो पड़े ।

रात बीत जाने से पहले दादी अम्मा बीत गयी । अपने भरेपूरे परिवार के बीच वह अपने पति, बेटे और पोतों के हाथों में अन्तिम बार घर से उठ गयी । दाह-संस्कार हुआ और दादी अम्मा की पुरानी देह फूल हो गयी ।

देखने-सुननेवाले बोले, "भाग्य हो तो ऐसा, फलता-फूलता परिवार ।"

मेहराँ ने उदास-उदास मन से सबके लिए नहाने का सामान जुटाया । घर-बाहर धुलाया । नाते-रिश्तेदार पास-पड़ोसी अब तक लौट गये थे । मौत के बाद रूखी सहमी-सी दुपहर । अनचाहे मन से कुछ खा-पीकर घरवाले चुपचाप खाली हो बैठे । अम्मा चल गयी, पर परिवार भरापूरा है । पोते थककर अपने-अपने कमरों में जा लेटे । बहुएँ उठने से पहले सास की आज्ञा पाने को बैठी रहीं । दादी अम्मा का बेटा निढाल होकर कमरे में जा लेटा । अम्मा की खाली कोठरी का ध्यान आते ही मन बह आया । कल तक अम्मा थी तो सही उस कोठरी में । रुआँसी आँखें बरसकर झुक आयीं तो सपने में देखा, नदी-किनारे घाट पर अम्मा खड़ी है । अपनी चिता को जलते देख कहती है, 'जाओ बेटा, दिन ढलने को आया, अब घर लौट चलो, बहू राह देख रही होगी । जरा सँभलकर जाना । बहू से कहना, बेटियों को अच्छे ठिकाने लगाये ।'

दृश्य बदला । अम्मा द्वार पर खड़ी है । झाँककर उसकी ओर देखती है, 'बेटा, अच्छी तरह कपड़ा ओढ़कर सोओ । हाँ बेटा, उठो तो ! कोठरी में बापू को मिल आओ, यह बिछोह उनसे न झेला जायेगा । बेटा, बापू को देखते रहना । तुम्हारे बापू ने मेरा हाथ पकड़ा था, उसे अन्त तक निभाया, पर मैं ही छोड़ चली ।'

बेटे ने हड़बड़ाकर आँखें खोलीं । कई क्षण द्वार की ओर देखते रह गये । अब

कहाँ आयेंगी अम्मा इस देहरी पर··· !

बिना आहट किये मेहराँ आयी । रोशनी की । चेहरे पर अम्मा की याद नहीं, अम्मा का दुख था । पति को देखकर जरा-सी रोयी और बोली, "जाकर ससुरजी को तो देखो । पानी तक मुँह से नहीं लगाया ।"

पति खिड़की में से कहीं दूर देखते रहे । जैसे देखने के साथ कुछ सुन रहे हों —'बेटा, बापू को देखते रहना, तुम्हारे बापू ने तो अन्त तक संग निभाया, पर मैं ही छोड़ चली ।'

"उठो ।" मेहराँ कपड़ा खींचकर पति के पीछे हो ली । अम्मा की कोठरी में अँधेरा था । बापू उसी कोठरी के कोने में अपनी चारपाई पर बैठे थे । नजर दादी अम्मा की चारपाईवाली खाली जगह पर गड़ी थी । बेटे को आया जान हिले नहीं ।

"बापू, उठो, चलकर बच्चों में बैठो, जी सँभलेगा ।"

बापू ने सिर हिला दिया ।

मेहराँ और बेटे की बात बापू को मानो सुनायी नहीं दी । पत्थर की तरह बिना हिले-डुले बैठे रहे । बहू-बेटा, बेटे की माँ··· खाली दीवारों पर अम्मा की तस्वीरें ऊपर-नीचे होती रहीं । द्वार पर अम्मा घूँघट निकाले खड़ी है । बापू को अन्दर आते देख शरमाती है और बुआ की ओट हो जाती है । बुआ स्नेह से हँसती है । पीठ पर हाथ फेरकर कहती है, 'बहू, मेरे बेटे से कब तक शरमा-ओगी ?'

अम्मा बेटे को गोद में लिये दूध पिला रही है । बापू घूम-फिरकर पास आ खड़े होते हैं । तेवर चढ़े । तीखे बालों को पीला बनाकर कहते हैं, 'मेरी देख-रेख अब सब भूल गयी हो । मेरे कपड़े कहाँ डाल दिये ?' अम्मा बेटे के सिर को सहलाते-सहलाते मुस्कराती है । फिर बापू की आँखों में भरपूर देखकर कहती है, 'अपने ही बेटे से प्यार का बँटवारा कर झुँझलाने लगे !'

बापू इस बार झुँझलाते नहीं, झिझकते हैं, फिर एकाएक दूध पीते बेटे को अम्मा से लेकर चूम लेते हैं । मुन्ने के पतले नर्म ओठों पर दूध की बूँद अब भी चमक रही है । बापू अँधेरे में अपनी आँखों पर हाथ फेरते हैं । हाथ गीले हो जाते हैं । उनके बेटे की माँ आज नहीं रही ।

तीनों बेटे दबे-पाँवों जाकर दादा को झाँक आये । बहुएँ सास की आज्ञा पा अपने-अपने कमरों में जा लेटीं । बेटियों को सोता जान मेहराँ पति के पास आयी तो सिर दबाते-दबाते प्यार से बोली, "अब हौसला करो"··· लेकिन एकाएक किसी की गहरी सिसकी सुन चौंक पड़ी । पति पर झुककर बोली—"बापू की

ग्रावाज लगती है, देखो तो।"

बेटे ने जाकर बाहरवाला द्वार खोला, पीपल से लगी झुकी-सी छाया। बेटे ने कहना चाहा, 'बापू' ! पर बैठे गले से ग्रावाज निकली नहीं। हवा मे पत्ते खड़खड़ाये, टहनियाँ हिलीं ग्रौर बापू खड़े-खड़े सिसकते रहे।

"बापू!"

इस बार बापू के कानों में बड़े पोते की ग्रावाज ग्रायी। सिर ऊँचा किया, तो तीनों बेटों के साथ देहरी पर झुकी मेहरो दीख पड़ी। ग्राँसुग्रों के गीले पर में से धुन्ध बह गयी। मेहरो ग्रब घर की बहू नहीं, घर की ग्रम्मा लगती है। बड़े बेटे का हाथ पकड़कर बापू के निकट ग्रायी। झुककर गहरे स्नेह से बोली, "बापू, ग्रपने इन बेटों की ग्रोर देखो, यह सब ग्रम्मा का ही तो प्रताप है। महीने-भर के बाद बड़ी बहू की झोली भरेगी, ग्रम्मा का परिवार ग्रौर फूले-फलेगा।"

बापू ने इस बार सिसकी नहीं भरी। ग्राँसुग्रों को खुले बह जाने दिया। पेड़ के कड़े तने से हाथ उठाते-उठाते सोचा—दूर तक धरती में बैठी ग्रगणित जड़ें ग्रन्दर-ही-ग्रन्दर इस बड़े पुराने पीपल को थामे हुए हैं। दादी ग्रम्मा इसे नित्य पानी दिया करती थी। ग्राज वह भी धरती में समा गयी है। उसके तन से ही तो बेटे-पोते का यह परिवार फैला है। पीपल की घनी छाँह की तरह यह ग्रौर फैलेगा। बहू सच कहती है। यह सब ग्रम्मा का ही प्रताप है। वह मरी नहीं। वह तो ग्रपनी देह पर के कपड़े बदल गयी है, ग्रब वह बहू में जीयेगी, फिर बहू की बहू में•••।

नवम्बर, 1954

भोले बादशाह

नाई के हाथ से झोला खींच भोले बादशाह ने कनपटियों पर हाथ फेरा, कुरता झाड़ा, फिर दो बड़ी-बड़ी वीरान आँखें फैलाकर आईने में अपनी सूरत देखी और देखते ही चौधरी की गर्दन पकड़ ली। कड़े हाथ से गर्दन दबोचकर जमीन पर दो पटकनियाँ दे चीखकर बोला, "पूरा सिर मूंड दिया साले, तुम्हारा खून पीकर रहूँगा!"

"छोड़ दो, छोड़ दो मुझे भोले बादशाह!"

नाई की झुकी कमर को जोर से झँझोड़कर भोले बादशाह ने चीखकर कहा, "क्यों छोड़ूँगा तुम्हें? आज किसी को नहीं छोड़ूँगा। अम्मा के बूढ़ लगती की जाड़ली को भी पकड़ लाऊँगा। अरे, उसे डोले में डालकर लाऊँगा, अह्" हा "'हा'''हा'''उसे ब्याहकर लाऊँगा ' उसे ब्याहकर'''"

एकाएक कड़े हाथ में गर्दन की पकड़ ढीली हो गयी। फटी आस्तीन में फड़कती बाँहें नीचे लटक गयीं और एक लम्बी, गहरी साँस चौड़ी छाती से उठकर गले में आ अटकी।

पल-भर बाद भोले बादशाह ने गले की घुटन को खँखारकर साफ किया और उतावली से झोला समेटते हुए नाई का हाथ पकड़ लिया—"रुको चौधरी, कहकर जाओ, वह सज्जनों की लाडो मेरा लड़ तो पकड़ लेगी?'''"

चौधरी ने पीछा छुड़ाने को आश्वासन दिया—"क्यों नहीं, क्यों नहीं भोले बादशाह, वह तो दिन-रात तुम्हारी ही राह तकती है'''"

"मेरी राह? ओह" तुम्हारे मुँह घी-शक्कर चौधरी'''उसे अभी लिवाने जाता हूँ। अम्मा जोड़ा बनाये, भाभी गहने गढ़वाये, भैया साफा रँगवाये और फिर जहान देखे कि मैं कैसा दूल्हा बनता हूँ ''इस तरह, इस तरह कूदकर चढ़ूँगा

घोड़ी पर चौधरी···" कहते-कहते भोले बादशाह ने ठीक नाई के सिर पर से छलाँग मारी और पटरी पर लगा किसी का खोमचा उलट दिया।

"अरे नास हो तुम्हारा, तुम्हारे घरवालों का··"

भोले बादशाह ने मुड़कर पीछे नहीं देखा। फुर्ती से सड़क पार की और कूद-कर कुल्लेवाली दूकान पर जा बैठा।

हाथ में तिल्लेदार मखमली कुल्ला लिये लाला पिछवाड़े से बाहर आये, तो क्षण-भर को ठिठके। फिर पास आकर ढीले स्वर में बोले, "खैर तो है, भोले बादशाह ! किसी से मार-पीट तो नहीं कर आये ?"

"नहीं लाला, नहीं,"— भोले बादशाह ने बार-बार सिर हिलाया और हँस-हँसकर कहा, "आज तो ब्याहने जाता हूँ, ब्याहने।"

लाला हँसे, फिर कन्धा छूकर बोले, "कहीं ब्याह की घड़ी न टल जाये लाडले, अब सीधे घर की ओर हो लो।"

"घर !" भोले बादशाह विस्मय से क्षण-भर लाला की ओर देखता रहा, फिर उचककर उनके सिर का साफ़ा उछाल लिया और अपने सिर पर रखकर बोला, "यही साफा बाँधकर जाऊँगा, लाला, ब्याहने !"

लाला ने कड़ाई से भोले बादशाह का हाथ झटका और सिर पर साफा लपेटते हुए झल्लाये—"हट, दूर हो, पगला कहीं का।"

"हिं · हिं हिं 'ही"—भोले बादशाह ने सिर खुजलाया और जैसे अपने को समझा-समझाकर कहा, "हाँ-हाँ, पागल भोला बादशाह, पागल भोले बादशाह का भाई, पागल उसकी माँ, उसकी भाभी, उसका बेटा, बेटे का बाप···"

लाला मन-ही-मन हँसे। ऊपर से चमककर कहा, "चुप रह, ओ भोले के बच्चे !" और हाथ के पूरे ज़ोर से उसे लकड़ी की पेटी पर से नीचे धकेल दिया—"जा, जा, अब घर को लौट जा··"

भोले ने खाली खाली नज़रों से लाला की ओर देखा, उनके साफे की ओर देखा, और दो-चार बार जल्दी-जल्दी झुककर छाती पीट ली—"हाय-हाय, मैं तुम्हें रोऊँ, तुम्हारे बेटे को रोऊँ, तुम्हारी घरवाली को रोऊँ।"

लाला से अब सहा नहीं गया। लपककर नीचे उतरे और दो-चार जड़ दिये।

"कुछ भी बोला तो पीट-पीटकर भुरता बना दूँगा, समझे ?" भोले बादशाह जैसे मार से बेखबर हो, एकटक लाला की ओर देखते-देखते बड़बड़ाया—"हाँ, हाँ, आज तो भुरता ही बनेगा, ज़रूर बनेगा, ब्याहने जो जाता हूँ !"

लाला अपनी निर्दयता के लिए झेंपकर रह गये। खिसियानी-सी हँसी

हँसकर दुकान की ओर मुँह किया और नत्थू हलवाई को आवाज दी—"ओ नत्थू भैया, आज भोले को हलवा-पूरी तो खिला डालो।"

"नहीं-नहीं, लाला, यहां नहीं। आज तो मेरे यहां हलवाई बैठा है। देगों में भर-भरकर खीर चढ़ेगी—पूरी, आलू, किशमिश की चटनी।"

भोले बादशाह के मुँह से लार बह निकली। ओठों पर जबान फेरकर ललचायी आँखों से नत्थू की दुकान की ओर देखा और नाली के पास पड़े कुत्ते को ठोकर मार पूरे गले से कहा, "ओ नत्थू के बच्चे, आज तो तुम्हारे बाप ने मेरे घर कड़ाह चढ़ाया है। एक सौ एक पूड़ी खाऊँगा, भर-भरकर चटनी के दोने पीयूँगा। अपने ससुर को 'सहबाला' बनाऊँगा। अरे, मुझे तू शाम को देखना, शाम को!"

गली के नुक्कड़ पर भोले बादशाह की पीठ देख नत्थू हलवाई और लाला चबूतरे पर बैठे-बैठे हँस दिये।

बादशाह घर पहुँचे तो दुपहर हो आयी थी। ड्योढ़ी में से ही आवाज दी—"ओ भाभी री, मेरा जोड़ा तो निकाल! मैं यहाँ बैठा हूँ।"

अन्दर से कोई उत्तर नहीं आया। इधर-उधर नजर मारी। कोने में अम्मा की अध-फटी जूतियाँ रखी थीं। हाथ में ले उलटी-पलटी और फिर कुछ निश्चय कर पाँव में डाल लीं। कुछ याद हो आने से फिर आवाज दी—"अरी ओ, बड़े की मनचली बहू, बाहर तो आ! • नहीं बोलती! मर-खप गयी है, तो भी बता दे••।"

सुनकर भोले की अम्मा बाहर निकल आयी। हाथ से बेटे का सिर ठोंककर बोली, "अरे करमजले, होश कर! मुझे बता जो कहना है।"

माथे पर हाथ मार भोले ने अम्मा की ओढ़नी खींच ली और कहा, "क्या कहता हूँ बुढ़िया ठूँठ! बुला उस चुड़ैल को, जो हँस-हँसकर बातें करती है।"

अम्मा ने हाथ से धमकाया—"चुप रे बदीद•"

भोले ने झट पैर की जूती अम्मा की ओर उछाली और कहा, "दूर रह, ओ पड़ोसियों की अम्मा, तू किसकी कुछ होती है! घोटकर पी जाऊँगा तुझे और तेरे भोले बादशाह को।"

अम्मा अपने नसीब पीटकर अन्दर हो गयी और ड्योढ़ी की साँकल चढ़ा दी। मुँह आयी गालियाँ देने में भोले बादशाह ने कसर नहीं रखी। दरवाजे पर मुट्ठियाँ मार-मार घर सिर पर उठा लिया।

"खोलती क्यों नहीं? क्या वह अन्दर पूत जन रही है? देख लेना, देख

लेना, मेरी बहू को भी लडके होंगे। एक बार उसे आने तो दे।"

सुनकर अम्मा से जैसे सहा नहीं गया। नन्हे को दूध पिलाती बहू को कड़ी नजर से देख झटपट सांकल खोल दी। नर्म और मीठे स्वर में बोली, "आ बच्चा, कुछ खा-पी ले। कहे तो खांडमलाई दूं..."

भोले बादशाह ने माँ की पूरी बात नहीं सुनी। भौजाई के हाथों से जबर-दस्ती बच्चा खींच अपनी छाती से चिपटा लिया और कहा, "आज इसे मैं अपने साथ सुलाऊंगा।"

डर से सहमकर भौजाई ने सास को संकेत किया।

"ला मेरे सयाने बेटे, इसे इधर कर—तू क्यों किसी के नैन-प्राण से लाड करे! कल को तेरी बहू आयेगी, तो सात बेटे खिलायेगी।"

"सात...!" आश्चर्य से आँखें फैलाकर भोले बादशाह ने रोते बच्चे को नीचे पटक दिया और फुसफुसाकर कहा, "एक बेटा, दो बेटे, तीन बेटे, चार बेटे, पांच बेटे, छ बेटे, सात बेटे...। अम्मा री, बोल तेरे कितने बेटे हैं? जल्दी बोल"

एकाएक बच्चे को उठाकर बाहर जाती हुई भौजाई पर नजर पड़ी। झपटकर ओढ़नी पकड़ ली—"तू जाती कहाँ है? तू ही उसकी सौत है, तू ही उसकी सौत है।"

माँ ने बीच-बचाव कर बहू को अलग किया और बेटे का हाथ पकड़ रसोई की ओर ले चली—"आ मेरे लाल, कुछ खा-पी ले..." बेटे के लिए आसन बिछा अम्मा ने थाली परोसी और पीठ पर लाड का हाथ रख बोली, "खा बेटा, खा..."

भोले ने सूनी-सूनी बेरस आँखों से माँ की ओर देखा। फिर झुककर एक लुकमा तोड़ा और मुँह की ओर ले जाते-जाते थाली में थूक दिया और क्रोध भरे स्वर में कहा, "यह खाऊँगा? यहाँ खाऊँगा? मुझे तो आज ब्याहने चढ़ना है, सेहरे बाँधने हैं। बता, मेरा साफा कहाँ है..."

"बच्चा, तेरा साफ़ा..."

पूरी बात भोले ने सुनी नहीं। पटिये पर बैठी अम्मा को धक्का दे दीवार से लगा दिया।

"नहीं लायी न मेरा साफा! क्यों लाती? मैं तेरा कुछ लगता थोड़े ही हूँ! मैं तो सौदाई हूँ · हाँ-हाँ, मैं सौदाई हूँ · कर ले जो मेरा करना है। माँ री, तेरे यहाँ का दाना-पानी मुँह लगाऊँ, तो मेरा नाम भोला नहीं, मोला नहीं ·" कहते-कहते भोले ने अपने बाल नोच लिये और माँ की ओर 'थू-थू'

करता बाहर निकल गया।

रात हो आयी। माँ ने भोले की राह तक-तककर चौका उठा दिया। बड़े की बहू बच्चे को सुलाने के बहाने अन्दर जा लेटी थी। बेटे के लिए दूध का कटोरा लिये अन्दर आयी, तो कुछ चिन्तित-सी बोली, "बेटा, नाई तुम्हारा दुपहर से निकला, अब तक नहीं लौटा। उन पर कोई नारी लत्ता भी नहीं…"

बेटे को यह कुछ नयी बात नहीं लगी। खाली कटोरा माँ के हाथ में दे, लिहाफ खींचकर बोला, "माँ, अब सो रहो। उसका कोई ठिकाना भी हो! सुबह आ पहुँचेगा।"

लड़के को आँखें मूँदते देख माँ को बेटा, बेटा-सा नहीं लगा। कड़वी नज़र से एक बार सोयी पड़ी बहू को देख अपनी कोठरी की ओर लौट गयी।

चारपाई पर पड़ते ही दिल में तीखी छौंक लगी। यहीं उसका बेटा चंगा-भला होता, तो इतनी रात गये मारा-मारा फिरता? अभागा क्या जाने घर का-सा घर क्या होता है! न तन की सुध, न मन की।

करवट लेते-लेते पीठ में पटिये से लगी चुभन जाग उठी, तो ब्याह के लिए तरसता बेटे का भूखा-भूखा बेबस चेहरा और छटपटाती बाँहें आँखों में घूम गयीं।

जाने कहाँ से ब्याह की बात सुन आया है। अन्दर-बाहर, गली-मुहल्ले कहता फिरता है कि 'अब डोला लेकर ही घर जाऊँगा। आगे-आगे बाजे बजेंगे, ढोल बजेंगे। फिर देखना, लाला, चूड़ेवाली मेरी गोरी-चिट्टी, दूध-सी बहू…'

अगली सुबह भोले की दूध-सी बहू नहीं, भोला अकेला ही घर पहुँचा, तो माँ बर्तनों में दूध डाल रही थी। इतनी जल्दी बेटे को आया देख चौंकी। फिर लोटा-भर पानी दिया और ढिलाई से स्नेह जताकर कहा, "झटपट कुल्ला कर मुँह-हाथ धो डाल बेटा, और कुछ खा-पी…"

भोले ने दहलीज पर खड़े-खड़े शून्य आँखों से एक बार माँ की ओर देखा और हाथ बढ़ाकर माँ के हाथों से लोटा ले लिया। माँ खुश हो गयी, सोचने लगी—जिस घड़ी इसका चित्त ठिकाने होता है, तो कौन यह कहता है कि दिमाग़ में कोई फेर है!

उधर ओसारे में खड़े-खड़े भोले बादशाह ने कुल्ला किया और लोटे-का-लोटा सिर पर उँडेल लिया। फिर गीले बालों से चूते पानी को कुरते से पोंछते हुए रसोईघर की दहलीज के सामने आ बैठा।

माँ ने सोचा—अब चुप्पी साध ली है तो हफ्ता-दो हफ्ता घर में ही पड़ा रहेगा।

दूध-भरे कटोरे में खांड डाली और उठकर भोले के हाथ में थमा दिया और पूछा, "कहे तो परांठा सेंक दूं ?"

भोले ने बिना कुछ कहे सिर हिला दिया।

माँ उठकर घर के दूसरे काम-धन्धों में जा लगी। भौजाई ने बच्चे को नहलाते-धुलाते, दीवार से लगकर चुपचाप बैठे देवर को देखा और पीठ मोड़ ली। सोचने लगी— कहीं मुन्ने पर नज़र पड़ गयी, तो खैर नहीं।

दुपहर चढ़ी और उतर गयी। भोले ने अपनी सुबहवाली जगह नहीं बदली। वहीं बैठे-बैठे आँखों में ऊँघ उतर आयी और सिर ज़मीन से जा लगा। माँ ने अन्दर-बाहर जाते बेटे को नीचे पड़े देखा, तो कपड़ा डाल पास ही चटाई बिछा गयी, इस ख्याल से कि करवट लेगा, तो इधर लोट आयेगा।

शाम होते-होते बेसुधी की गहरी नींद टूटी। भोले ने घरघराते गले से घर-भर सिर पर उठा लिया। माथा पीट-पीटकर चीखा—"अरे, कोई पानी लाओ। हाय-हाय, मेरा गला सूखता है, मेरा गला..."

माँ तुलसी-तले दीया जला रही थी। वहीं से बोली, "चिल्लाकर क्या पास-पड़ोस के कान फोड़ेगा ? बहू, तनिक देवर को पानी तो पिला दो..."

बहू साग छौंक रही थी। सुनकर बड़बड़ायी—"अरे सब्र कर! जाने मह..." भौजाई ने सास के डर से कड़ाही नीचे उतार दी। लोटा-भर पानी लिया और पास जाकर बोली, "होश कर रे! दिन-भर पड़ा रहा, अब उठ, बदन सीधा कर..."

भोले ने बड़े-बड़े दो-चार घूँटों में ही लोटा खाली कर दिया और काँपते हाथ से एक ओर फेंककर नीचे लुढ़क गया।

भौजाई का माथा ठनका। हाथ बढ़ा बाँह छूकर तुरन्त लौट पड़ी। सास के पास जाकर स्वर में चिन्ता भरकर बोली, "अम्मा, चलकर देखो तो! ताप से देवर का पिण्डा जला जा रहा है।"

अम्मा ने झुककर बेटे का जलता माथा छुआ, तो सहम गयी। व्यस्त होकर बोली, "बहू, पड़ोस से ज़रा हरबसे को बुला लाओ। उठाकर चारपाई पर तो डाल।"

हरबसा आया, तो साफे का लड़ ठीक करते-करते हँसकर बोला, "मौसी, भोले को आज काहे बीमार कर दिया! बेचारा रात-भर तो गली-गली ब्याह का न्यौता देता रहा।"

माँ को यह हँसी सुहाई नहीं। तेवर चढ़ाकर बहू पर बरस पड़ी—"अरी सयानी बहू, खड़ी-खड़ी क्या तकती है ? जाकर बिछौना लगा।"

हरबंसे ने लापरवाही से भोले बादशाह का सिर ठोंका और मसखरी से कहा, "अरे मेरे भोले शेर, तुम्हें किसने पछाड़ दिया! उठकर जरा दिखाओ तो अपना जल्वा।"

भोले ने लाल-लाल निर्बल आँखों से हरबंसे को देखा और दायीं बाँह फैला-कर जमीन पर दे पटकी।

अम्मा ने हाथ दिया और हरबंसा घेरकर भोले को बिछौने तक ले आया।

"भोली, रात भर कहीं सरदी खा गया है। सोंठ-मुनक्के का पानी पिलाओ इसे।" फिर थपकी देकर भोले से हँसकर बोला, "अच्छा भोले यार, सुबह तक उठ जाना। कल तो तुम्हारी बारात चढ़नी है।"

भोले ने बेसुधी में ही जैसे सुना और समझ लिया। झटककर हरबंसे का हाथ खींचा और फटे गले से कहा, "तू ही चलेगा मेरे साथ! न गया तो हड्डी-पसली का चूरमा..."

माँ ने आँख से हरबंसे को जाने का संकेत कर बेटे के मुँह पर हाथ रख दिया। एक बँधी-बँधी छटपटाहट हुई, फिर दुपट्टे से बेटे का माथा पोंछ स्नेह से बोली, "आराम से सो जा मेरे लाडले! कल जो मन में आये सो करना।"

लड़के के लिए जी का जो तरस आया। सोने-छोपली-मलायी काठी-देह भगवान ने दी, पर सिर ही फिरा दिया। नहीं उसका बेटा घर-बाहरवाला होता, बेटे-बेटियोंवाला होता।

भोला बड़बड़ाया—"पकड़ूँगा ...पकड़ लूँगा..."

अम्मा ने बहू को आवाज दी—"बहू, चूल्हे को गर्म ही रखना। ऊपर सोंठ-इलायची डाल पानी चढ़ा दो।"

बड़ा काम पर से लौटा, तो माँ के चाहने पर भी भाई के लिए अधिक चिन्ता नहीं दिखायी। बच्चों को पुचकार, हाथ-पैर धो खाना खाया और जम्हाई लेता-लेता पास आकर बोला, "क्या जाड़े से ताप चढ़ा है, अम्मा? जाने रात-भर कहाँ भटकता रहता है।"

फिर लौटने को उद्यत होकर कहा, "मैं तो थका हूँ। तुम भी अम्मा, यहीं चारपाई डाल सो रहो।"

अम्मा ने तिरस्कार से देखा और हाथ से रोककर धीमे-से बोली, "तुम तो थके हो, पर इस अभागे को क्या कोई दवा-दारू नहीं ला दोगे?"

बेटे ने माँ से नजर नहीं मिलायी और दहलीज की ओर मुड़कर कहा, "सुबह हकीमजी के यहाँ जाऊँगा।" और बाहर हो गया।

अम्मा देर तक भोले के पास से नहीं उठी। बड़े बेटे का व्यवहार देख भोले

के लिए जी भर आया। जब उस मालिक ने ही देख भाल नहीं की बेचारे की तो और कोई क्यों करेगा !

एकाएक पैर पटककर भोल ने ऊपर का कपडा नीचे फेंक दिया और छाती पर हाथ मारकर कहा हाय हाय मेरा दम घुटता है

माँ बेटे पर झुककर बोली 'पानी पियोगे बेटा ?

पानी पियूगा। दरिया-का दरिया पी जाऊगा। एक एक गागर खाली कर दूगा। तू देखती रहना देखनी रहना। तुझ मैं समझना क्या हू !

माँ ने सिर-तले बाँह रखकर पानी का कटोरा मुह से लगा दिया।

एक ही घूट म गट गट पीकर जैसे भोले की जान मे जान आ गया। आँखें फैलाकर माँ की ओर देखा और झपटकर बाँह मे पडा गोखरू पकड लिया।

छोड बेटा छोड सदके जाऊँ छो" दे। माँ ने कहा।

भोले ने पकड और भा कडी कर ली और दांत कटकटाकर कहा यह गोखरू उसका है उसका है और पूरे जोर से मा की बाह मरोड दी।

दद से माँ कराह उठी और खाली हाथ पर आ गयी सरोंचो का पल्ल से पोछने लगी। गोखरू हाथ मे लिये लिये ही भोला फिर निढाल हो गया।

माँ ने दो एक बार हौले से गोखरू लेने को हाथ बढाया और रुक गयी। लाल जोड मे लिपटी दुल्हन का चेहरा आखों मे घूम गया जो उसके बेटे को ब्याही जानी और जिसे मुहदिखायी वह यही गोखरू देती

नीद मे करवट लेकर लेटी तो जाने कहाँ-से-कहाँ पहुच गयी। किसी के हिलाने से चौंककर उठी। पास बहू खडी थी। घबराये-से स्वर मे बोली अम्मा भोला तो नल खोलकर नीचे बैठा है। मेरे कहे तो

अम्मा हडबडाकर उठ बैठी। बेटे को पूरी धार खुले नल के नीचे से खीच कर कहा अरे काल न जाये तेरा क्यो अपनी मौन बुलाता है !

जाड से भोले के दात किटकिटा रहे थे। कपडों स पानी निचुड रहा था और सिर से बाल माथे पर झुक आय थे।

ठण्ड से काँपते भोले को माँ घसीटती हुई अन्दर लायी और झिडककर बहू से बोली जा अपने अहलकार का जगाकर ला ! आकर भाई के कपड बदले।

बडा आया। बिखरे बाल और उनींदी आँखो पर न जाने कैसी कठोरता उभर आयी थी। एक बार ठण्डी निगाह से माँ की ओर देखा और भोले को झकझोरकर रोबीले स्वर मे बोला उठ कुरता उतार !

भोल ने काँपते-काँपत पास खड भाई को दखा और उसके पैरो पर अपना सिर पटककर कहा मुझ क्यो तरेरता है ? हाँ हाँ आज तो तू ही मरेगा।

तेरी माँ मरेगी। मैं मैं · मैं "

माँ आगे बढ़कर भोले के मुह पर हाथ रखने ही वाली थी कि बड़े करारा धौल दिया। और डाँटा—' चुप भो सूमर ! ' और माँ से कहा, "इध लाओ अम्मा कपड़े।

भाई से कपड़े बदलवाते भोले ने कोई खींचातानी नहीं की। मुँह उठा खाली-खाली निरीह आँखों से बस देखता भर रहा।

माँ घरकर पुचकारते हुए उसे चारपाई के पास ले आयी और कहा, ' लेट मेरे अच्छे बेटे। उसके सिरहाने पर सिर रखते ही जोर की कँपकँपी च गयी। माँ ने रजाई पर दो चार भारी कपड़े डाले। कपड़ा लेकर बाल सुखार और गम-गम घी स तलवे मलने लगी। वह क्या अपने सिर फिरे बेटे को क और क्या कहकर अपन भाग को कोसे !

एकाएक मालिश के लिए बटे की भरी भरायी मजबूत कलाई को छूते ह आँखें बरस पडी। यह पली पलाथी देह और जवानी की उम्र। और बडबडाने लगी— बच्चा किसने देखा है जो तेरे दिल म घुमडता है ! सिर ठिकाने नहीं पर एक ही रट है—मैं ब्याहने जाऊगा, मैं घोडी चढूगा

दिन निकला। हकीमजी तवे से तपते पिण्डे को छूकर बोले, ' कस्तूरी मे बनी दवाई भेजता हूँ बाकी उस मालिक के हाथ।'

भोले बादशाह सबसे बेखबर बिना हिले डुल बेसुधी मे पडे रहे। न सुध पहले थी न अब। आँखें मुदी हैं। यही लगता है, कोई बाँका जवान नींद मे पडा सो रहा है। दो-तीन बार बेहोशी म ही मुँह मे दवा डाली गयी।

दोपहर ढलते ढलते लम्बी साँस गले मे अटकने लगी और पूरी देह-की-देह छटपटाने लगी। माँ ने सिर पर हाथ रख रुँध कण्ठ से पुकारा—' बोल, मेरे बच्चे— फिर आँचल से आँखें पोछ बहू से कहा, ' बहू, बटे स कह कुछ दान-पुण्य करवा दे। अब दवा क्या काम आयगी ! '

एकाएक जोर से बाँहें उछालकर भोले ने आँखें खोल दी। अपने ऊपर झुकी माँ को और देखा भोजाई की ओर देखा और माँ के गले म बाँहें डाल उसे पूरे ओर स भीच लिया। बडबडाने लगा—"तू ही मेरी कुछ लगती है। तू ही डोले से उतरी है। तू ही

अम्मा सँभलकर उठने को थी कि हाथ की पकड ढीली हो गयी। घरघरा कर साँस उखडी। आँखें पथरायी और सिर सिरहाने जा लगा।

अप्रैल, 1953

आवेग में ओढनियाँ खिसकी, बाँहें बाँहों से मिली और तीनों बहनें गले लग गयीं—बड़ी, छोटी और मँझली। देह से लगी वर्षों की छाया क्षण-भर के लिए अलग जा पड़ी। बचपन, माँ के आँगन और एक-दूसरी से चिपटीं वे तीनों। मीठे सगे दिन पलकों में तैरने लगे और आँखें भीग आयीं। ममता से उमड़े गहरे आलिंगन, घर-गृहस्थी के डोरों में उलझे अन्तर के नीचे छिपी प्यार की स्मृतियाँ उछल-उछलकर आँचल भिगोने लगीं। एक ही आँगन में खेली-कूदीं, पर बड़ी होकर वे दूर-दूर किनारों से जा लगीं। घर आँगन बदल गये, प्यार के नाते बदल गये और आसपास जैसे अपनी अपनी परछाइयाँ घूमने लगीं। फिर तो इसी तरह कभी-कभी शादी-ब्याहों में दो-चार दिनों का मेल और फिर भर्राये कण्ठों से विदाई।

बड़ी ने कन्धे पर से हल्के से मँझली का सिर उठाया और माथा चूमकर गीले स्वर में बोली, "मँझली, यह दिन आ गया है तुम्हारी राह देखने। घर के ब्याह में न आती, तो मन का तार तुम्हारी ओर ही बजता रहता।"

मँझली ने आँचल से आँखें पोंछीं और बहन की ओर स्नेह से निहारते हुए कहा, "बहन, क्यों न आती बेटे के ब्याह में? आज के दिन बलिहारी जाऊँ, मेरा बच्चा घोड़ी चढ़ेगा, सेहरा बँधेगा! बहन, मेरे बच्चे को बुलाओ, तो ···।" फिर जरा हँसी—"अरे, आज तो दूल्हे को कुटुम्ब-परिवार घेरकर बैठा होगा! हाँ बहन, मेरी बहू कैसी है? कपड़े लत्ते, गहना-गाँठा तो सब बनवा लिया है न?"

बड़ी व्यस्त भाव से अपनी बहनों के लिए खाने-पीने को कहने रसोईघर की ओर जा रही थी। बहन की बात सुनकर लाड़ में भीग गयी। जाते-जाते

रुकी—"मँझली, लड़की का भाग्य अच्छा है, सब-कुछ चाव से बनवाया है। तुम जानो, अब वह पहली बात तो रही नहीं। किनारी-गोटे और तिल्ले से भरपूर जोड़े अब कौन पहनता है? वह तो अपने दिनों में ही होते थे— सौ-सौ तोले से जड़े भारी जोड़े! मँझली, तुम्हारे ब्याह में माँ ने लाल पट्टे की ओढ़नी बनवायी थी। भारी काम के नीचे कपड़ा दीख न पड़ता था।"—कहते-कहते बड़ी ठिठककर खड़ी रह गयी।

मँझली ने एक बार आहत-सी दृष्टि से दोनों बहनों की ओर देखा, फिर एकाएक सँभलकर कहा, "बहन, तब तो चलन ही कुछ और थे। हाँ, ज़रा धर्म को तो बुलाओ, बड़ी बहन!"

बड़ी ने इस बार मँझली की ओर देखा नहीं। जाते-जाते बोली, "छोटी, मँझली, तुम दोनों नहा धो लो। रात-भर की थकान और मैं खड़ी-खड़ी तुम्हें बातों में ही लगाये रही।"

बड़ी ने पीठ मोड़ी। छोटी ने देखा, आज नाते-रिश्तों से भरे ब्याहवाले घर में बहन सचमुच ही मालकिन-सी लगती है। मगुणों की लाल ओढ़नी में उसका साफ़ रंग और भी निखर उठा है। चाल में अधिकार है और हृदय में दूल्हे की माँ होने की उमंग। मँझली के लम्बे श्वास ने छोटी को चौंका दिया। आँखों में पानी नहीं था, पर किसी गहरे दुख की छाया में आँखें जकड़ गयी थीं। भारी कष्ट से वह किसी तरह भी रोके हुए आँसुओं को छिपा नहीं पायी। बड़ी कठिनाई से वह कह सकी—"छोटी!"

बहन की यह विवशता-भरी आवाज़ सुनकर छोटी का मन भर आया। दिल हुआ, बहन के गले लगकर जी भरकर रो ले, पर सामने ही बड़ी की सास चली आ रही थी। किसी तरह सँभलकर वह हँसी और बोली, "बहन, मौसी आ रही है। बुढ़िया में कोई फ़र्क़ नहीं। कमर झुक गयी है, पर आँखों में परखने की वही तेज़ी है।"

मँझली उठकर बड़ी की सास के गले लगी और मृदु स्वर में बोली, "मौसी, बहुत-बहुत बधाई!"

"बधाइयाँ तुम्हें हों, बेटी! बधाइयाँ लड़के की मौसियों को बच्ची, तुम दोनों की राह ताकते तो बहू की आँखें थक गयीं।"

मौसी बैठने को हुई और आसपास निगाह घुमाकर बहू की बहनों के सामान पर नज़र डालने से चूकी नहीं। फैली हुई चीज़ों में फलों और मिठाइयों के बड़े-बड़े टोकरे दीखे। बुढ़िया ने छोटी की पीठ पर हाथ फेरकर कहा, "बेटी, अकेली आयी हो, यह अच्छा नहीं किया। जमाई को क्या दो-चार दिन की भी छुट्टी

नहीं मिल सकती थी ?"

छोटी ने मुस्कराकर छिपी दृष्टि से मँझली की ओर देखा और बोली, "मौसी, छुट्टी मिलती, तो क्या वे न आते। धर्म के ब्याह की तो सात परायों को खुशी है। उन्हें तो बरात में जाने का इतना चाव था! पर मौसी, नौकरी का मामला ठहरा!"

मौसी मँझली की ओर मुड़ी—"बेटी, सास-ससुर तो अच्छे हैं? सुना था, कारोबार के दो हिस्से हो गये हैं। बेटी, देवर-देवरानियाँ तो वहीं हैं न ? छोटे देवर के यहाँ लड़का हुआ है, बधाई हो। उस दिन शायद बहू ही कह रही थी कि देवर के लड़के को मँझली गोद ले रही है।" छोटी ने मँझली के मुख पर विरक्ति की फीकी-सी मुस्कान देखी। जैसे कह रही हो—'मौसी, इन सब बातों का क्या जवाब दूँ?'

छोटी ने बुढ़िया को दूसरी ओर खींचा—"मौसी, सुना है समधियों का बड़ा घर है। लड़की के भाई ठेकेदार हैं। मँझली बहन, इस बार तो मौसी को समधियों के यहाँ से मोतियों का हार आयेगा।"

छोटी की बात सुनकर मँझली हँसी। छोटी मौसी को कितना पहचानती है! बहू की विधवा निःसन्तान बहन के परिवार के झगड़ों से निकालकर बुढ़िया को किसी दूसरी ओर ले जाना आसान नहीं। समधियों की बात सुनते ही मौसी सीधी होकर बैठ गयी और उत्साह से बोली, 'बेटी, धर्म के लिए कोई एक रिश्ता था! लोगों ने चक्कर काट-काटकर हमारी देहरी घुला डाली, पर तुम जानो, हमें कोई लेन-देन का विचार न था। मालिक की दया से दिया घर में सबकुछ है। भगवान सबको ऐसा दिन दिखाये। छोटी, किसी सयानी की ही दवा-दारू कराओ। अपनी बहन को ही देखो, पूरे दस साल बाद यह लड़का हुआ था। चिन्ता के मारे तो मेरा शरीर घुल गया था। बहू का भाग ही समझो कि मालिक ने उसकी सुन ली। हाँ, मँझली, तुम भी कुछ सोचो। इस शरीर का क्या पता ? हाथ से कोई काम-करम कर डालो। देवर के लड़के को ही गोद लो ।"

मौसी की बात पूरी होने से पहले ही व्यस्त भाव से बड़ी आ पहुँची। सास की ओर सन्देह और शंका से देखकर बोली, "छोटी, सूखे मुँह यह वक्त आ पहुँचा है! उठो, जल्दी नहा आओ।" कहते-कहते बड़ी ने संकेत से छोटी को ऐसे देखा, जैसे अब उसका क्षण-भर भी यहाँ बैठना नहीं होगा।

छोटी और मँझली एक साथ उठीं, तो बड़ी ने सास को कुछ अनचाहे-से तीखे स्वर में कहा, "अम्मा, आते ही इन्हें बातों में ले बैठीं! तुम्हारी यह आदत जायेगी नहीं। पहर हो गया, उन्हें आज मुँह में पानी की बूँद तक नहीं पड़ी।"

बुढ़िया ने तेवर चढ़ाकर बहू की ओर देखा। कभी ज़माना था, सास की इन आँखों के सामने बड़ी का सिर न उठता था। पर आज—आज बुढ़िया की आँखों मे नही, बड़ी के चेहरे पर उस अधिकार का बोध है। अब वह स्वयं सास बनने जा रही है, तो किसी से क्यों डरेगी? सास ने पल-भर मे बहू की आँखों में छाये इस नये अधिकार को देखा। चाहा कि एक बार गरजकर बहू को ठीक कर दे। अपनी बहनों के लिए आज वह सास को नीचा दिखा रही है! पर दूसरे ही क्षण बहू शिकायत के स्वर मे कह रही थी, "अम्मा, कौन किसी के घर रोज़-रोज़ आता है? मँझली और छोटी से कोई ऐसी-वैसी बात न करना। तुम्हारे पेट मे कोई बात रहती नहीं। लेकिन अम्मा, मेरी बहनें पहले ही कम दुखी नहीं हैं।" बड़ी ने सास के उत्तर की प्रतीक्षा नही की।

सास को लगा जैसे बहू आज्ञा दे रही हो। बड़े अधिकार-भरे गर्व से बरामदे की ओर जाकर ऊँची आवाज़ से बोली, "रामधन, मेरी छोटी यह सब मीठा नही खायेगी। हलवाई से कहो, जल्दी से नमकीन निकालकर दे जाय और मँझली के लिए भण्डार से फल लेते आओ।"

सास को लगा जैसे बहू उसे सुना-सुनाकर कह रही है। उसका जी जल उठा। कभी था, जब उसकी आज्ञा के बिना बहू किसी को पानी तक न पूछ सकती थी और आज हाथ मे हुक्म-हासिल आते ही अपने सगों के चोचले मानने चली। क्रोध और दुख से सास का मन भर आया। जिन बेटा और पोतों के पीछे वह मनौतियाँ मना-मनाकर बूढ़ी हो गयी है, उसी बहू के ये लच्छन! अब तक उसने क्या परिवार-भर के नाते-रिश्तों को एक आँख से नहीं देखा और आज बहू को अपनी बहनों की पड़ गयी! अमीर होगी तो अपने घर मे होगी। फिर यह अमीरी भी किस काम की? न गोद खुली और न बाल-बच्चों का मुँह देखा···सोचते-सोचते बुढ़िया भण्डार के सामनेवाले कमरे मे बिछी चारपाई पर जा लेटी। लेकिन लेटे-लेटे भण्डार से निकलते रामधन के हाथ की तश्तरियों को देखने से चूकी नहीं!

मँझली और छोटी नहा-धो नाश्ता कर बैठी, तो धर्म ने आकर मौसियों के पाँव छुए। मँझली ने पीठ पर हाथ फेरा, माथा चूमा और सिर से रुपये छुआ दिये। बड़ी कुछ कहते-कहते रुकी। छोटी बहनों से क्या वह रुपये दिलवायेगी? पर मँझली की ओर देखकर वह ठिठक गयी। जिन ममता भरी आँखों से मँझली ने लड़के को निहारकर उसका माथा चूम लिया है, वह ममता क्या उसकी अपनी ममता से कम है! क्षण-भर भी उसकी दुखियारी बहन अपना दुख भूल जाये, तो···।

मँझली ने कोई सुख नहीं देखा। माँ ने बढ़ा घर देखकर ब्याहा, सुन्दर पढ़ा-लिखा वर आया, पर भाग्य के साथ किसका ज़ोर? बड़ी जैसे बेटे के सगुणों के लिए इससे आगे कुछ सोचना नहीं चाह रही, पर प्यार के आँसुओं में मँझली का लाल कपड़ों में लिपटा चेहरा उभर आया। छोटी हँस-हँसकर धर्म से कह रही थी, "देखो धर्म, मैं तो मौसी-वौसी कुछ नहीं। तुम्हारी बहन-सी लगती हूँ। बहन का हक़ लिये बिना तुम्हें छोड़ूँगी नहीं।"

बड़ी का मन हुआ छोटी के लिए क्या न दिखा दे! बोली, "बेटा, कहते क्यों नहीं—मौसी, जो हुकम करो? इन्हीं पैरों का सदका आज यह दिन आया है, बेटा!"

रात की रोशनी की जगमगाहट में दूल्हे का महकता फूलों का सेहरा चमचमा उठा। घोड़ी पर सोने का मखमली साज चमका और बड़ी-बूढ़ियों के सगुणों में ब्याह और घुड़चढ़ी के गीत गूँजने लगे।

बड़ी के गले में हार चमक रहा है और झोली में सगुण के दिये रुपये। गहनों से लदी छोटी बहनोई से हँस-हँसकर परिहास कर रही है। और मँझली ज़रा एक ओर हटकर खड़ी है। आँखों में जैसे बीते जीवन की तृष्णा लौट आयी है। अभी-अभी घोड़ी पर चढ़ने से पहले धर्म ने आकर मौसी के पैर छुए, तो मँझली ने मृदु स्वर में आशीर्वाद दिया—"जीते रहो बेटा! भगवान तुम्हें बड़ी उमर दे। खुशी-खुशी बहू को ब्याहकर लाओ।" धर्म ने हँसती आँखों से मौसी की ओर देखा—सामने से सीधे-सादे कपड़ों में खड़ी मौसी के मलिन चेहरे की जगह लाज से सकुचायी रंग-बिरंगे कपड़ों में लिपटी छाया था खड़ी हुई। मन रस में भीग गया। कोई रिश्ते की भाभी हँसकर बोली, "देवर, कहाँ देख रहे हो! यह ससुराल तो नहीं है, जहाँ लड़कियों में से किसी को ढूँढ़ रहे हो!" आसपास खड़ी लड़कियाँ खिलखिला दीं। उनके साथ-साथ मँझली भी हँसी। पर इस हँसने में जैसे ओठ ही हिलकर रह गये। बीते वर्षों ने करवट ली। मँझली सिर पर कपड़ा लिये द्वार पर खड़ी है। आसपास सहेलियों की भीड़ है। उसके मेंहदी लगे हाथों में फूलमाला काँप रही है। क्षणों बाँहें ऊपर उठती हैं, मोतियों का गुँथा सेहरा उसकी बाँहों को छूता है और फिर एक लम्बी सिहरन। मँझली ने मानो बन्द आँखें खोलीं। वह औरतों के समूह से अलग खड़ी है। बाजे बज रहे हैं।··· उसका कण्ठ घुट रहा है। पण्डितजी का ऊँचा उच्चारण धीरे-धीरे उसे झकझोर रहा है। "मँझली,"—यह बड़ी की आवाज़ है। क्या वह बहन को अपना यह

दिल बतायेगी ?

मँझली ने अपने से छूटकर इधर-उधर देखा, पैर उठाये और घोड़ी के पास नाते-रिश्तों के समूह में घिरे दूल्हे के पास जा पहुँची। भीड़ में से छोटी ने देखा। बहन का पीला-सा चेहरा देखकर धक्का लगा। निकट आकर बोली, "मँझली बहन, यही न भी लेना चाहे, तो भी क्या, हम दोनों का कुछ देना नहीं बनता ?" मँझली ने सुना और बहुत अधिक अपनेपन की दृष्टि से छोटी को देखा। मन में प्यार उमड़ आया। आज इसी के बाल-बच्चे होते !

छोटी ने जैसे सहज में ही बहन के इस आकस्मिक स्नेह में उस मिठास को कल्पना का रूप देख लिया। मचलते-से स्वर में बोली, "मँझली बहन, लेन-देन के लिए जो ढेर-से कपड़े बनवाकर लायी हो, वे क्या दोगी नहीं ?"

मँझली उठखड़ी और लौटी। उत्साह से बोली, "आओ, छोटी, कपड़े यहीं उठवा लाओ। इस शुभ घड़ी में न दूँगी, तो और कब दूँगी ?"

कपड़े आये और जोड़े बँटने लगे। सेहरा गूँथनेवाली मालिन, नाई, धोबी, साईस, नये-पुराने नौकर सभी को कपड़े और रुपये। दूल्हे पर आशीर्वाद बरस रहे हैं और दूल्हे की माँ जात बिरादरी के सामने सिर ऊँचा किये खड़ी है। उसके पति का घर भरा-भराया है, तो पिता के यहाँ तथा बहनों के यहाँ भी कोई कमी नहीं। लड़के की मौसियाँ नम्र भाव से यह सब लेने आ रही हैं। बड़ी आज तक छोटी बहनों से लेने पर 'न' कहती रही है, पर आज वह क्या कहकर मना करे ! लड़का उसका है, पर आज के लिए तो सबका साझा है !

बरात का चढ़ावा हो गया। बाजों की आवाज धीरे-धीरे दूर होती गयी। नाते-रिश्ते और परिवार की औरतें मिलकर अपनी-अपनी बातें करने लगीं। बूढ़ी मौसी मँझली और छोटी के पास आ बैठी और स्वर को मीठा करके बोली, "आज का दिन धन्य है, बेटी ! मेरा धर्म ब्याहने गया है ! भगवान की छाँह हो उस पर ! मौसियों को भी कम खुशी नहीं। बहनों का नाता ही ऐसा होता है, बेटी !"

छोटी को बूढ़ी मौसी की इस भूमिका से न जाने क्यों असुविधा-सी होने लगी। चाहा कि काम का कोई बहाना बनाकर उठ जाये। मँझली तो जैसे वहाँ नहीं थी, कहीं और थी। वह कहीं दूर देख रही थी, कान जैसे इस कोलाहल में से किन्हीं बीते हुए स्वरों को सुन रहे थे।

"मँझली, तुम्हारा सुख भगवान से देखा नहीं गया। अब तो यही है बेटी, किसी बच्चे को पाल-पोसकर बड़ा करो। वह तुम्हें अपना समझे, तुम उसके मुँह की ओर देखो। बेटी, सुख में सब अपने हैं, पर उम्र-भर कौन किसका साथ

देता है ?"

छोटी ने मौसी की बात अनसुनी कर मँझली की बाँह थामकर कहा, "उठो बहन, दिन भर से लेटी नहीं हो अब आराम करो। कल सुबह फिर माँ को 'देन' देनी है।"

"हाँ मौसी, तुम्हारी समधिन इस बार भी तुम्हारे पट्ट की ओढनी और सोने के बटनों को भूली नहीं।"

मौसी प्रसन्नता को छिपाती हुई बोली, 'बेटी, मेरी समधिन का दिया सिर-माथे पर! प्यार-प्यार म इतनी निभ गयी है।"

मौसी को वहीं छोड़कर छोटी मँझली को कमरे में लिवा ले गयी। शय्या पर लिटाकर कपड़ा ओढा दिया। मँझली ने विरोध नहीं किया और शून्य दृष्टि से दो-एक बार छोटी को देखकर आँखें मूँद ली। यह बहन का घर है, पर इस घर में भी उसका अपना कोई नहीं न घर, न बाहर।

सुबह मँझली उठी तो स्वस्थ थी। छोटी के मस्तक पर रेखाएँ उभर आयी थीं। बडी से जाकर बोली 'बडी, मँझली बहन को अकेले देखा नहीं जाता। ससुराल के भरे परिवार मे भी वह कितनी अकेली है, यह तुम जानती हो। आज उसके पास कोई भी हो, कोई भी ।"

बडी भण्डार से देने के लिए नारियल निकलवा रही थी। सुनकर क्षण भर के लिए ठहर-सी गयी। एक बार अर्थपूर्ण दृष्टि से छोटी की ओर देखकर बोली, 'छोटी, यह क्या मैं नहीं जानती ? पर भाग्य अपने अपने " कहते-कहते बहन के लिए उमडी सहानुभूति से बडी का स्वर स्वस्थ नहीं रह सका।

झन झन गहनों की झनकार में दुलहन ससुराल पहुँच गयी। नाते की बहनों ने मन माँगे उपहार लिये, बहू को गहने कपडे भेंट दिये और बडी ने इतने वर्ष सास की अधिकारपूर्ण छाया के नीचे रहकर आज सास का पद सँभाल लिया। सब बधाइयाँ ले-देकर अपने अपने घर चलने लगे। छोटी और मँझली ने भी चलने की तैयारी की। कल मुँह अँधेरे ही दोनो गाडी चढ जायेंगी। छोटी दो चार दिन मँझली के यहाँ ठहरकर आग जायगी। दिन भर नयी दुलहन और आनेवाले सम्बन्धियों मे व्यस्त रहने पर रात को देर गये बडी अपनी बहनों के पास आ बैठी। अपने ही घर का यह कमरा जाने क्या आज उसे अपरिचित-सा लग रहा था। बहनो के मलिन, पर हँसते चेहरे देखकर वह खुश नहीं हो सकी। लगा जैसे आज उसके घर की प्रसन्नता किसी दूसरे के दुख की छाया है। बहनें उसकी हैं, पर वह घर, घर का धनी, बेटा-बहू सब उसके बहुत अपने हैं, बहुत

मगे हैं। इन सबके सामने ये दोनों बीत गये बचपन की सहेलियाँ-सी लगती हैं भरसक स्वर में लाड भरके बोली, "मँझली-छोटी, मैं चाहती थी कि तुम कुछ दिन यहाँ रहती। कब-कब माना होता है ? पर " आगे लम्बे अर्से तक बिछुड़ने की बात सोचकर उसका गला भर आया। फिर ओढ़नी से आँखें पोंछकर कहा, "मँझली, कोई किसी का दुख नहीं काट सकता। मैं तो इस घर-गृहस्थी में बँधी हूँ, पर धर्म को तुम पराया न समझना।"

मँझली और छोटी के बँधे आँसू एक ही साथ गिरने लगे। रात्रि की निस्तब्धता में तीनों बहनें कब तक इसी तरह बैठी रही, कुछ पता नहीं।

इसी तरह कई पहर बीत गये। एकाएक मँझली उठी। आँखें अब तक सूख गयी थीं। बक्स खोलकर दो असमनी डिब्बे निकालकर बड़ी के हाथ में देते हुए बोली, "बहन, तुम्हें नहीं दे रही, मेरी बहू को दे देना। सुबह चलती बार शायद न मिल सकूँ उससे।"

बड़ी निरुत्तर-सी, थकी-सी कई क्षण दोनों की ओर देखती रही।

दूर कहीं मुर्गे ने बांग दी। रात बीत गयी थी। बड़ी की दृष्टि अनायास खुले द्वार की ओर गयी और जब लौटी, तो डबडबाकर अन्धी हो गयी थी। दोनों बहनों को गोद में भरकर फफक पफक रो पड़ी। बचपन साथ-साथ एक ही माँ की गोद में बीता था, पर समय की लम्बी अवधि ने उनको कितना दूर कर दिया था! अब एक-दूसरे का दुख-सुख नहीं बँटा सकती थीं—नहीं बँटा सकती!

एक ही झोली में तीनों के आँसू गिर रहे थे। पर यह अब क्षण भर का साथ फिर उन्हें बिछुड़ जाना है। कितनी देर के लिए, कुछ पता नहीं। वर्षों का लम्बा बिछोह तीनों बहनों के सिर पर झूल रहा था—एक माँ की बेटियाँ, पर अब वे एक नहीं—उनके घर एक नहीं, उनके प्यार के नाते एक नहीं। वे तो जैसे एक ही घर-आँगन से उठकर अलग अलग किनारे जा लगी हैं।

नवम्बर, 1952

बदली बरस गयी

कमल फूलों से भरे ताल। पर बदली बरसने लगी। हरे-हरे पत्तों के नीचे कमल के डण्ठल हिल गये और खिले-अधखिले फूलों पर पानी की बूँदें थिरकने लगीं। कल्याणी ने चबूतरे पर खड़े-खड़े लम्बे काले बालों को सहेजा और मोटी गाढ़ी धोती का आँचल कुर्ता के नीचे खोस लिया। रूखे-काले हाथों से एक बार माथे को छुआ और कमरे की देहरी पर आन खड़ी हुई। महाराज अभी ध्यानमग्न थे। कढ़ी हुई खादी की चद्दर कन्धों से होती हुई उनकी बाँहों से सिमटी पड़ी थी। कहीं कुछ बिखरा-बिखरा, उखड़ा-उखड़ा नहीं। गहरे ध्यान में बैठी मुद्रा अपनी ही आकृति में एकाकार हो गयी है। चेहरे का खिचाव अन्तर के समय से घुल-मिल गया है। आँखों के अन्दर जीवन का अनुभव सर्दी-गर्मी से परे कुण्डली मारकर जम गया है। आँधी-पानी से दूर सब ओर शान्ति ही शान्ति है।

बादलों की ओट में हो गये सूरज के पतले अँधियारे में कल्याणी ने रिक्त आँखों से कमरे की ओर देखा, महाराज के जोगिया वस्त्रों की ओर देखा और बाहर निकल आयी। चबूतरे के सामनेवाली कोठरियों में आश्रम का भोजन-गृह और भण्डार है। महाराज के रसोईघर में गौरी माँ फूल के चमकते बरतन धो रही है। झुककर पटिया पर बैठी ऐसी लगती है जैसे जीवन की तापस सन्ध्या स्वच्छतर होकर झुक गयी हो। और उसके हाथों में है शान्ति का ठहरा-ठहरा रूप। अभी महाराज ध्यान से उठेंगे। दर्शन देने के लिए बाहर पधारेंगे। भक्त जन झुकेंगे। आरती होगी। घण्टियाँ बजेंगी। फिर महाराज और गौरी साध्वी का आशीर्वाद पा आश्रमनिवासी भोजन की व्यवस्था में लगेंगे। यह आश्रम का नियम है जिसका पालन कल्याणी ने हमेशा किया है। वह आज भी करेगी— रात के बाद उसकी आँखों में प्राणों की ज्योति रही तो कल भोर के बाद फिर

इसी नियम में वह बँधी-बँधी चलेगी। सखी-सहेलियों से खेलनेवाले दिनों के एक दिन अनायास जब उसने अपने को इस आश्रम में पाया, तो मन में नहीं आँखों में विस्मय फैलकर रह गया। माँ के साथ जब वह पहली बार इस आँगन में आकर खड़ी हुई थी, तो आश्रम को आश्रम समझने की समझ उसमें नहीं थी। माँ महाराज के सामने झुकी थी और रो दी थी। और दूसरे दिन जब देर गये उठकर वह कोठरी के द्वार पर आ खड़ी हुई तो माँ के तन पर गीली धोती थी—माथ पर चन्दन का टीका था और और जब माँ कोठरी में लौटी तो सिर पर घने काले केश नहीं थे। धोती का पल्ला बालों से नहीं, मस्तक से लगा रह गया था। दिन-भर माँ का व्रत रहा। शाम को पूजन के बाद उसने चरणामृत आँखों से छुआकर मुँह से लगा लिया। आश्रमवासियों ने ऊँचे स्वर में कुछ सूक्त बोले और माँ को अपनी ही तरह अपने में स्वीकार कर लिया। रात को माँ उसके बिछौने से हटकर भूमि पर लेटी थी। तन पर वही दिनवाली धोती थी। सिर के नीचे अपनी बाँह थी। उसने पुकारा था—"माँ!" माँ बोली नहीं। कल्याणी को दादी-अम्मा याद हो आयी जो दिन-रात तीखे बोल बोल माँ को रुला देती थी। और फिर माँ के आँसुओं के साथ-साथ उसकी पिटाई भी होती थी।

"माँ, नीचे क्यों लेटी हो···"

माँ का जी उछला।

"माँ, तुम्हारे बाल क्या हुए, कट क्यों गये माँ···"

माँ ने आँचल आँखों पर थमा दिया।

"माँ, बोलो तो ··"

माँ कुछ बोली नहीं। सरककर उसके बिछौने के पास आयीं और एक हाथ से उसे घेरकर रुक-रुककर रोने लगीं।

माँ के आँसुओं में कैसा दर्द था और क्यों दर्द था यह सुधि कल्याणी को तब क्योंकर होती, पर फिर भी माँ के हाथ से अपनी उँगलियाँ छुआकर कल्याणी ने सोचा था कि माँ दादी-अम्मा की फटकारों के लिए रोती है और रोती है अपने लम्बे बालों के लिए।

उस कोठरी में फिर माँ के साथ उसने वर्षों दीये के उजाले में रातें काटीं। माँ देर गये ध्यान में रहती—और सुबह उसके उठने से पहले ही आसन पर होती। आश्रमनिवासी माँ के सामने झुकते—माँ आँखें खोलतीं, मुस्करातीं, हाथ उठाकर आशीर्वाद देतीं और फिर आँखें मूँद लेतीं।

माँ के आसपास अब आस्था थी। निष्ठा थी। कल्याणी को कभी-कभी

आश्चर्य होता। सोचती, माँ क्या अपना घर एकबारगी भूल गयी! दादी-अम्मा का कठोर चेहरा और गौरवर्ण चाची की मुस्कराहट कभी-कभी कल्याणी को खूब याद हो आती। दादी ने उस कभी दुलारा नहीं था, चाची ने जब-जब मौका लगा उसे छोड़ा नहीं, पर वैसे फीके बचपन में भी कल्याणी माँ की परायी नहीं थी। अपनी थी। अब वह बड़ी हो रही थी। माँ की आँखों के सामने थी, पर नहीं थी। माँ देखकर भी देखती नहीं। बेटी के साथ जो अपनापन था वह बेटी से छिटककर मोह-ममता से दूर जा पड़ा था। महाराज माँ की साधना से प्रसन्न थे। माँ अपनी साधना में शान्त थी और कल्याणी उन सब पके हुए चेहरों में जगमगाती श्याम वर्ण, उभरता उठान और खुलते हुए हाथ-पाँव।

माँ कुछ कहती नहीं। सुबह-शाम प्रणाम के लिए आये आश्रमवासियों के साथ ही उसे भी हाथ उठाकर मौन आशीर्वाद देती है। माँ मोह के पानी को छोड़कर भगवत्-आनन्द में मग्न थी। और उसके अतीत के, घर गृहस्थी के बन्धन, तन-मन के रस सब उससे विलग होकर एक कल्याणी में मण्डित हो गये थे। उन मौन और शान्त आँखों में इस पहचान का मूल्य नहीं रह गया था। उसके लिए अपना-पराया सब एक थे। महाराज विराग की परख से माँ-बेटी को जाँचते तो गौरी माँ की मायारहित साधना उन्हें बहुत ऊँची, बहुत ऊँची लगती। आश्रम में कथा-वार्ता होती, भजन-कीर्तन होते और भक्तों को देवी साध्वी और महाराज की पुण्य शरण में आत्मा से साक्षात् होता। कल्याणी सुबह-शाम भोजन-गृह में काम करती, पूजा के लिए फूल चुनती और शेष समय बातों के रस में इधर-उधर भटकती रहती। पास के सरोवर पर कभी भोर होते नहाने जाती तो पत्थर की सीढ़ियों पर पैर मलते-मलते मन होता कि बार-बार पानी से धुल-धुल जाये।

जल्दी-जल्दी बाँहों पर हाथ फेरती तो बाँहें उसे अपनी नहीं लगतीं। गाढ़ की कुरती और जोगिया धोती लिपटाते-लिपटाते बुआ के रंग-बिरंगे कपड़े मन में झिलमिला जाते। दादी अम्मा आँगन में बैठी हैं और माँ बुआ के लिए रेशमी महीन धोती पर किनारी टाँक रही है। चाची फूलदार कपड़े की चोली सिल रही है। हँसकर कहती है, "इधर आओ ननदरानी, बिना नाप के चोली ठीक नहीं बैठेगी..."

बुआ शरमाती-सी हँसती है। चाची के पास आकर कहती है, "भाभी, बनाती हो मुझे पर लो..." कहते-कहते बुआ नाप के लिए कमर उभाड़ती है फिर।

आँगन के कोने में बैठी कल्याणी बुआ के तन से लगी रंगीन चोली देखती है, कमर के पीछे लटकते डोरों की लम्बाई जाँचते-जाँचते चाची हँसकर कहती है,

'ननदरानी, अब यह डोरे बँधने क्या…"

बुआ हँसती है, शरमाती है।

और यह कल्याणी!

कल्याणी नहाकर लौटती है। गुरुजनों के सामने झुकती है, महाराज को प्रणाम करती है, माँ साध्वी को प्रणाम करती है, पर आँखों में बुआ के कपड़े झिलमिलाते हैं। बुआ के नहीं कल्याणी के—कल्याणी के रंगीन रेशमी आवरण कहाँ हैं। कल्याणी यहाँ है पर उसके कपड़े… यह जोगिया धोती…माँ उसे क्या कहती है बनन को? नहीं—कुछ नहीं, जो आश्रमवासिन पहनती हैं वही वह पहनती है पर उन्हें पहनने की सुधि कहाँ है!

कल्याणी कोठरी की ओर जा रही है। माँ उस कोठरी में नहीं रहती। अब साध्वी माँ की बेटी होने के नाते पूरी कोठरी उसके पास है। उस पहिली रात के बाद जब माँ बेटी के पास लेटकर रोयी थी, कल्याणी के लिए वैसी रात फिर कभी नहीं आयी। घर में माँ पिता की मृत्यु के बाद माँ असंख्य बार रोती थी—दादी और चाची की कलह से निकलकर रात को माँ का रोना कल्याणी को नया नहीं लगता था। उन दिनों की याद करके कभी वह सोचती है माँ जो आश्रम में आकर एक ओर बैठ गयी है, वह क्या दादी-अम्मा की उन बातों को भुला देने के लिए? पर कल्याणी क्या करे?

"माँ…"

माँ प्रतिमा के सामने माथा रखकर लौट रही थी। कुछ बोली नहीं।

"माँ…"

साध्वी माँ ने कल्याणी की ओर ऐसे देखा जैसे यह सम्बोधन उसे रुचा नहीं और पाँव उठा लिये।

"माँ!"

इस बार स्वर में विनय नहीं थी। मलमली गूँधी-मुँदी आवाज थी। साध्वी ठिठक गयी, फिर शान्त होकर कहा, "आयी।"

कल्याणी और साध्वी माँ कोठरी के अन्दर चली आयीं।

साध्वी माता आसन पर विराजीं। हाथ में माला थी। शान्त निर्विकार आँखों से कल्याणी को देखा और वैराग्य की मुस्कान फैलाकर बोलीं, 'कहो।"

कल्याणी को हाथ की माला और माथे के चन्दन के टीके में माँ कहीं दीखी नहीं। अपनी भूल सुधारकर कहा, 'साध्वी माँ…" कुछ आगे कहते-कहते रुकी।

"साध्वी माँ, आश्रम में मन नहीं लगता…"

साध्वी माँ शान्त बैठी रहीं। वह क्यों हिलेंगी! यह मोह-माया का आवरण

है जो उसे कोई सुख नहीं देता।

'उपवास करो।

क्या होगा उपवास कर

शान्ति मिलेगी।

नहीं साध्वी माँ   कल्याणी न प्रतिवाद करना चाहा।

इसे भजन में लगाओ।

कल्याणी न यह शब्द सुन न्हो—साध्वी माता की ओर देखती भर रही। वह अब माया-ममता से दूर हैं—माँ के साथ ही दादी अम्मा का चेहरा दीख पडा। कुछ क्षण सोचकर कहा माँ साध्वी मुझे दादी-अम्मा के पास भेज दो।

मस्तक की रेखाएँ अंगकर स्थिर हो गयीं। पराये गले से कहा वह अब माया मोह स छूट गयी होंगी।

नहीं-नहीं साध्वी माँ ऐसा न कहो।

जाओ आज से महाराज के निवास-स्थल को बुहारा करो।

"न्" का कहना कठिन था। कल्याणी उठी नहीं। न हाँ की न नहीं। जड होकर बैठी रही। दादी अम्मा चाची चाचा बुआ—वह सबकी सब गृहस्थी क्या इतना भर कहने से मिट गयी होगी कि दादी अम्मा दुनिया मे उठ गयी ?

और यह आश्रम ? कोठरियो की कतारें देवस्थान पूजा गृह—माँ और महाराज के आसन।

उस दिन पहली बार महाराज के घर को कल्याणी ने बुहारा। महाराज के वस्त्र आसन मृगछाला पुस्तकें और दीवार पर लगा आराध्यदेव का चित्र। बुहारकर भाड-पोछ की। विधाता मे माँ की आज्ञा मानकर पहली बार कल्याणी के मन को नहीं हाथो को सन्तोष हुआ। भोजन गृह का अनिच्छापूर्ण काम नहीं वह तो किसी की देख रेख करना चाहती है। उसके हाथ अभ्यस्त हैं पर मन नहीं। यह इस जगह को और साफ अधिक साफ करेगी। महाराज को दिखायेगी कि केवल माँ म ही नहीं उसमे भी कुछ कर सकने की सामर्थ्य है।

और होन से पहले महाराज जब उपासना गृह मे विराजत हैं तो कल्याणी घर को सहेजती है। पर सहेजने और सवारने को वहाँ है क्या ? इनी गिनी वस्तुएँ। बार-बार भाडती पोछती है। महाराज स्थिर गति से लौटते हैं तो एक ओर द्वार पर खडा भुककर प्रणाम करती है। महाराज हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हैं— शान्त हो। वह और भुकती है जसे आशीर्वाद म मिली शान्ति को भल लेना चाहती है।

साध्वी माता देखनी है, उनका अनुभव कच्चा नहीं था। महाराज की सेवा लड़की को देकर उसके कच्चे मन को जगह पर खींच लायी हैं। पर उस दिन कल्याणी का सम्भाषण भी आकस्मिक नहीं था। क्षण-भर को कल्याणी के खिचे-खिचे चेहरे और शुष्क गले को देखकर साध्वी माता को भूल गये, बिछुर गये पति के ठण्डे तेवर याद हो आये थे। उन हाथों में माला के मनके न होते तो बीत गये वर्षों की कड़ी दो हाथों से दबाकर जरूर जकड़ देती। सास का नाम सुनकर मन कुछ-कुछ सिकुड़ जाना चाहता था, पर विधवा हो जाने के बाद सास की निर्दयता को साध्वी माँ ने यह कहकर क्षमा कर दिया था कि वह अब तक मोह-माया से छूट गयी होगी। लेकिन कल्याणी की आँखों में जो माया की सुधि बिछती चली आ रही थी, उसे साध्वी नहीं देख पायी। उस उभरती युवा देह को देखकर भी साध्वी को वह कजरारी रातें याद नहीं हो आयी जो कभी उनके अपने पर से होकर गुजर गयी थीं। पति को जो कुछ वर्ष वह जान सकी, तन से ही जान सकीं, मन से नहीं। और उनके जाने पर जो मन आवरण के नीचे था वह तन से विलग हो जाने पर बिखर गया, बह गया। और उस रिक्त मन को भगवत्-भजन में शान्ति मिल जाने में देर नहीं लगी।

कल्याणी आज तारों की छाँह में जगी। हाथ में धोती ले सरोवर की ओर उतर गयी। पीला-सा चाँद पानी में झिलमिला रहा था। तारे लहरों पर लहरा रहे थे। ठगी-सी खड़ी रही। मीठी हवा बालों को छू गयी। बैठकर पानी में मुँह डुबोया। नित्य जिसमें स्नान करती है क्या वही पानी है आज भी! नहा लेने पर तन धुल गया। सूखी धोती पहनकर कल्याणी ने गीली धोती छिनककर सूनी सीढ़ियों पर फैला दी। घुटनों पर सिर डाले कई क्षण बैठी रही। कण्ठ में कुछ अटक गया-सा था। देर गये उठी तो धोती सूख चुकी थी और प्रभात के नीले आकाश पर सफेदी फैल गयी थी। पाँव उठे, पर महाराज के घर की ओर नहीं। अपनी कोठरी की ओर। धोती को इकट्ठा करके सिर के नीचे रखा और आँखें मूँदकर लेटी रही। पहर-दो-पहर में सिर पर धूप आयी, पर कल्याणी उठी नहीं। कोठरी के जालीदार झरोखे और लकड़ी के कपाट को ठेलकर कोई उसे बुलाने नहीं आया। दुपहर तक खाने-पीने की इच्छा नहीं जगी। शून्य मन से प्रभात के उस सूनेपन में जैसे उसकी दृष्टि नहीं, देह सिहरती रही।

कल्याणी ने कोठरी छोड़ी तो सामने महाराज के रसोईघर में साध्वी माँ पाटिये पर बैठी काँसी के बरतन धो रही थीं। देखकर रुकी नहीं। महाराज के द्वार से अन्दर झाँका। महाराज अभी ध्यान में थे। बाहर बैठी रही। घुटने पर हथेली टिकी थी। आँखें विस्फारित-सी बादलों की दौड़-धूप देखती रहीं। रसोईघर

से साध्वी माँ निकली तो बूँदें बरसने लगी। एक बार उड़ी उड़ी दृष्टि कल्याणी पर डालकर वह पूजा गृह की ओर हो ली। बदली नीचे घिर आयी और खूब बरसी। आश्रम की ड्योढ़ी में किसी भक्त का परिवार बौछार से बचने के लिए आ खड़ा हुआ। कल्याणी ने उचककर देखा माता पिता के आस पास लिपटे दो बच्चे। आँखों में बसा सूनापन छँट गया। धरती ने आवाहन में पहने भीगी भीगी हल्की सुगन्ध छोड़ी और फिर जैसे निढाल होकर गीली हो गयी।

महाराज ने आँखें खोलीं। रेखाओं से भरे मुख पर अपूर्व शान्ति थी। कन्धों पर पड़ी चद्दर महाराज की आकृति को और भव्य बना रही थी। कल्याणी क्षण भर देहरी पर रुककर अन्दर आयी। नित्य की तरह प्रणाम के लिए झुकी नहीं।

कुछ कहना चाहती हूँ महाराज

महाराज ने छिपी अविनय को अपनी गम्भीर दृष्टि से देखा — कहो।

कल्याणी कहते-कहते रुकी।

महाराज क्या साध्वी माँ यहाँ आ सकेंगी ?

महाराज ने अनुभव बटोरकर लड़की का चेहरा देखा। आँखें विनय और नम्रता से दूर थीं।

बुला लो।

साध्वी माता धीर शान्त गति से चलती हुई आयी। मूर्त तपस्या-सी लगती थी। महाराज के निकट बैठी लड़की को आशंका से नहीं उदासीनता से देखा।

कहो कल्याणी ! महाराज का धीर गम्भीर स्वर।

कल्याणी ने उड़ती निगाह से एक बार माँ की ओर देखा और महाराज की ओर झुककर बोली महाराज अब इस आश्रम में मैं नहीं रहूँगी।

शब्दों से अधिक आँखों में ज़ोर था।

कल्याणी आवाज़ साध्वी माँ की थी जो कुछ कहते कहते महाराज के संकेत से रुक गयी थी।

आश्रम में कोई कष्ट है ?

कल्याणी ने खुलकर महाराज को देखा — आश्रम पर मेरी कोई आस्था नहीं

कल्याणी ! साध्वी माँ का चेहरा कठिन हो आया।

महाराज धक्के से सँभले। क्यों पूछते-पूछते रुके। पहर की-सी ही गम्भीर आवाज़ में बोले कहाँ जाना चाहती हो ?

कल्याणी ने निर्दयता से साध्वी माँ को आँखों से पकड़ा — मैं अब अपना घर बनाकर रहूँगी।

साध्वी माता के मस्तक पर अपमान की अप्रिय छाया फैल गयी। कठिनता से यही कह पायी—"कल्याणी!"

कल्याणी माँ के इस सम्बोधन को कितना अन्दर खींच सकी, साध्वी माता नहीं जान पायी। तिरस्कार से कल्याणी को नहीं, उसकी जोगिया धोती को देखती-भर रह गयी। जैसे कहना चाहती हो—इतनी देर इन कपड़ों में रहकर भी रहकर भी!

महाराज समझ गये, अब लाडली लौटेगी नहीं। अज्ञान और अन्धकार की व्यथा से जी भर गया। कण्ठ को स्वस्थ कर बोले, "कहाँ जाना चाहती हो?"

साध्वी माँ साँस रोके रही, आशंका से, सन्देह से।

"पहले पिता के घर जाऊँगी और फिर अपने घर।"

साध्वी माँ अनजाने में पल भर सिहरी।"

महाराज स्वर में अपने अनुभव और आयु की गरिमा भरकर बोले, "आज नहीं—तुम्हें कल जाने की आज्ञा है कल्याणी!"

कल्याणी जरा-सी हँस दी। जैसे कहना चाहती हो—आज आज्ञा न मिलती तो भी मैं रुकती नहीं।

महाराज और कल्याणी को साध्वी माँ देख नहीं पायी अपनी उठती गिरती पलकों में से।

अभ्यासवश कल्याणी महाराज के सामने झुकी, माँ के सामने झुकी और खड़ी होकर बोली, "जाती हूँ माँ—मेरे लिए अब भी समय है। आश्रम की कोठरी में कल से मेरा दम नहीं घुटेगा—अब मेरा अपना घर होगा।" कहते-कहते कल्याणी उस घर की मीठी कल्पना में बाहर हो गयी।

महाराज कुछ बोले नहीं। साध्वी माँ कई क्षण मौन बैठी रही। बोल मुँह पर आने को थे कि व्यथा से आँखें अन्धी हो गयीं। और रुके-रुके श्वास के साथ एक आहत-सी सिसकी निकल गयी।

महाराज पल-भर करुणा से साध्वी माँ के तापस रूप को देखते रहे और मुस्कराकर बोले, "गौरी साध्वी, शोक न करो। भरी बदली थी—बरस गयी।" गौरी साध्वी बरसती आँखों से आँचल लगाकर सोचती रही—साधना और संयम के इन लम्बे वर्षों में क्या उसके मन पर भी ऐसी ही काली बदली घिरती चली आ रही थी···जो आज बरस गयी है, बरस गयी है···

मार्च, 1952

गुलाबजल गंडेरियाँ

धन्नो ने हड्डियों की मूठ-सी अपनी देह पर लकड़ी सा हाथ छुआया, पपड़ी-जमे ओठों पर सूखली ऐंठती-सी जिह्वा फेरी और निढाल होकर कटरे की नाली के पास जा लगी। तपी दुपहरी, बँधे-बँधे आकाश पर घुटी घुटी मटमैली छाया। कटरे के मकानों की एक दूसरे से जुटी कतारें, बरामदों और चबूतरों पर लटकी चिकें, चिकों को सँभाले पतली मोटी रस्सियाँ, छोटे-छोटे लोहे के जंगलों पर लटकती धोतियाँ और कटरे के फर्श पर कपड़ों से भरी खिचती खड़खड़ गाड़ियाँ। चबूतरों के साथ-साथ बहती नाली और नाली से निकलती हुई चौड़ी लकीरों की तरह गन्दे पानी की मोरियाँ। धन्नो ने थोक मालवाले बड़े लाला की दुकान के आगे पड़े घड़े की ओर प्यासी निगाहों से देखा, सूखे गले से एक घुटती-सी साँस ली और फिर एकाएक तड़पकर अपनी नंगी छातियों का दबोच लिया। प्रेत की-सी छाया पर दो बेरंग ढीले स्तन और उन पर दो काले धब्बे-से निशान। धन्नो की आँखों ने नहीं, धन्नो के इस वक्ष ने कटरे के सिर पर से गुजरते समय को देखा है। वे एक-से दिन-रात और अलग-अलग-सी कोठरियाँ, छोटे-बड़े लाला और मुनीम· 'पर'· पर यह घुटती-सी दुपहरी और गर्मी में अटका हुआ दिन! धन्नो का सूखा गला और ऊपर दोमंजिले से ढँके आसमान का एक कोना उसको निर्ममता से तरेर रहा है। उसकी पलकें प्यास और घुटन मे डूबती जा रही हैं। वह सोना चाहती है, पर दलालों की ऊँची-ऊँची आवाजें—उनमें खिचते हुए कण्ठ की तृष्णा कहाँ है? कहाँ है वह स्वप्न, जिसकी रूपहीन किन्तु मांसल देह अगणित पाँवों को अपनी ओर खींच लाती थी? गर्मी और आकाश पर ढीठ बादलों की उमरन कब सरकेगी, कब बरसेगी · कब बरसेंगी पानी की दो बूँदें···?

आज धन्नो ने सुबह आँख खुलते ही अपने सूखे-सूखे बालों में रात की उमस से बहती पसीने की बूँदों को छुआ था। गर्दन के नीचे मोटे-मोटे लाल-लाल दाने छँटे पड़े थे। छाती के ऊपर के निशान तपन के मारे और भी फैलते जा रहे थे। कटरे की छत पर से झाँकती दिन की रोशनी ने उसके उघरे तन में जैसे सुइयाँ चुभा दीं। और धन्नो ने अपनी डूबती आँखों से एक बार कटरे के ऊपरवाले मकानों से आते गन्दे पानी के नाले को देखा। पानी···

कटरे का चिरपरिचित अधेड़ हलवाई बड़े-से कड़ाह में सुबह-सुबह जलेबियाँ तल रहा है। चूल्हे की आँच, उसकी लाल-लाल चमक अपनी तेजी दिखला रही है। पास ही आग जलाने से पहले साफ की हुई अँगीठी की राख का ढेर है। धन्नो को सूखते कण्ठ के साथ-साथ अपनी मास का वह तेवर-भरा चेहरा याद हो आया, जिसे मिस्कोड़कर वह उसे धूल फाँकने को कहा करती थी। उसके कहने को वह किस बेशरमी से हँस-हँसकर कटरे-भर में बिखरा दिया करती थी! चुन्नी के मर जाने के बाद समय-असमय जिस-जिसके रुपये-धेले ने उसकी मुट्ठी भरी, उन्हें क्या वह मास के कहने भर से छोड़ देगी? फिर बुढ़िया उम्र-भर एक ही कोठरी से लगी रही है। क्या समझेगी वह इस धूल फाँकने को?

धन्नो ने चबूतरे की दाहिनी ओर सीढ़ियों पर से बिहारी सेठ के लड़के को उतरते देखा। नहाया धोया, साफ-सुथरे कपड़े। पतले अबड़े कुरते पर सोने के बटन। बारीक चुन्नट और मुँह में पान। इतना गोरा, इतना साफ! कटरे में तरह-तरह की सूरत देखकर कभी धन्नो का कितना मन होता था ऐसे आदमी के लिए! किसी अकेली रात में लौटकर वह सोचा करती थी कि कभी किसी धुले-धुनाये सेठ के घर बैठ जाये तो ··पर उघड़े कपड़ों में अपना काला रंग देखकर उसकी वह साफ-सुथरी सूरत सिर धुनकर रह जाती। उसने एक बार कटरे के बाहर एक पति-पत्नी को एक साथ कपड़ा खरीदते देखा था। बढ़िया कीमती कपड़े और उनमें चमकते हुए दो चेहरे। धन्नो ठिठककर रह गयी थी। उसकी प्यासी आँखें स्त्री के रंगीन कपड़ों पर नहीं, पुरुष के साफ हाथों पर जाकर अटक गयी थीं। वह देर तक निष्प्रभ-सी खड़ी उन दो बाँहों और हाथों को देखती रह गयी थी। इतनी स्वच्छ देह ··कैसी लगती होगी कैसी लगती होगी यह छूने से! और उस दिन कोठरी में लौट छटपटाहट में धन्नो का मन अपनी गन्दी काली चमड़ी को उतार फेंकने को हुआ था ' पर···पर कपड़ों की तरह यह चमड़ी अपने हाथों नहीं बदली जा सकती, नहीं बदली जा सकती।

बिहारी सेठ का लड़का दूर जा चुका था। धन्नो गर्मी में भुनती हुई चबूतरे पर से उठकर कोठरी में जा पड़ी। पतली-ढीली चारपाई के सिवाय आज इस

कोठरी में और है ही क्या ?

टूटे मुँह का मटका एक ओर खाली उदास पड़ा है। उसमें पानी नहीं, पानी नहीं धन्नो के जलते तन के लिए, उसके सूखे कण्ठ के लिए। धन्नो ने आँखें मूँद लीं। पास ही वही ठण्डक पहुँचानेवाले शब्द की लय—'गुलाबजल गँडेरियाँ !' उस सुर को, लय को भग करते हुए तांगे और मोटरें। दुपहर की तपन कैसी भी हो, पर बाज़ार का लेन-देन, आना-जाना नहीं रुक सकता। खड़-खड़, ट्राम के पहियों की भारी आवाज़—धन्नो ने नीचे की ओर लटका हुआ हाथ कान पर रख दिया। आज इतना शोर क्यों ? वह यहाँ रहते-रहते पक गयी है, पर ऐसा दिन उसने पहले कभी नहीं जाना। न कभी इतनी उमस थी, न इतना शोर। क्या बाज़ार और कटरे का काम-धन्धा पहले न चलता था ? 'गँडेरी गुलाबजल ·· गुलाब गँडेरी। गँडेरी गुलाब ठण्डक की तरह गँडेरी गुलाब ·' धन्नो के हाथों से ढके कानों में भी यह ऊँची बुलाहट पहुँच रही है, पहुँच रही है··· 'गँडेरी गुलाब', 'कुलफी मलाई की', 'मलाईवाली कुलफी' · धन्नो ने ओठों पर जिह्वा फेरी। कपड़े में जमायी बर्फ और ससुर के कन्धे पर रखी वह नीली-सी सन्दूकची याद हो आयी। जब वह पहले-पहल ससुराल आयी थी, तो चुन्नी का बापू ठण्डी-ठण्डी जमी बर्फ बेचा करता था। एक टूटे-से चाकू से कुतरती बर्फ की तह और दाँतों को हिलाती हुई वह ठण्डक···धन्नो ने अचकचाकर आँखें खोल दीं। उन दिनों के बाद आज तक·· आज तक उसने बर्फ नहीं खायी ? मलाई की कुलफी, जामुन, मीठा मेवा, पेड़ का पका शहतूत बना दिया जलेबा, बनानेवाले ने, लगा दिये···लगा दिये तरावट से · धन्नो का गला भींग गया। यह सबकुछ यहाँ बिकता था और उसने आज तक नहीं खायी ? क्यों ··क्यों · वह सब खायेगी। शर्बत ··रसभरी गँडेरियाँ, रसभरी ·। धन्नो उठी। अँधेरी कोठरी में खड़ी उसकी छाया, उसकी परछाईं कहीं भी हिली नहीं। दहलीज पर पाँव ठिठक गये। गुलाब मेवा ··वह खायेगी, पर कहाँ से लेगी ? कैसे लेगी ? पैसे·· पैसे धन्नो ने जुड़े पैर उठाये, और ज़मीन पर ही लेट गयी। आज बाबूराम मिला, तो वह उससे ज़रूर कहेगी--ज़रूर। वह कहेगी · पर क्या कहेगी, यह धन्नो को एकाएक भूल क्यों रहा है ? उसके हाथ-पैर सो रहे हैं। टाँगें डूबती डूबती जा रही हैं। सिर से पाँव तक बहता पसीना पहलीवाली घुटन को तोड़कर बह निकला है। किसी ठण्डी हवा ने जैसे कोठरी को छू लिया है। धन्नो छूटी-सी नीचे पड़ी है।

आज तपन का दिन था। पर अब·· अब वह तपन काँप क्यों रही है ? आसमान पहले से धुंदा है। धन्नो की बन्द आँखों पर कोई पर्दा ऊपर-नीचे हो

रहा है। वह सेठ के अहाते में लगे जामुन के पेड़ तले बैठी अपन झोली भर रही है। ढेर-से जामुन···पर्दा हिलता है···वह घाट की ओर जाते हुए मैदान में हवा में झूल रही है। हवा में ? नहीं। वह चार आदमियों के कन्धों पर है। वह झूलती जा रही है, घाट की ओर, जमुना की ओर, जमुना ! 'बाबूराम, रोको··· रोको··· जामुन के पेड़ तले रोको···मैं जामुन खाऊँगी··· पेड़ की टहनियाँ झुकाओ। बाबूराम, तुम्हारे बाप ने एक दिन··· एक दिन के लिए ही बहो, मुझे सबकुछ मान लिया था। तुम उसके बेटे हो। मुझे ठण्डक पहुँचाओ ! ठण्डक ···' धन्नो ने छटपटाती-सी साँस ली। सिर एक ओर लुढ़क गया। हिलता-हिलता पर्दा तन-मन की आँखों पर आ गिरा। पानी के लिए धन्नो के ओठ हिले। फूटा घड़ा सूखा पड़ा था। कोठरी अँधेरी थी। पर बाहर के कोलाहल के साथ-साथ ही एकाएक बौछार पड़ने लगी।

धन्नो धन्नो ! धन्नो ने पथराती दृष्टि से बरसते पानी की बौछार देखी—छम · छम-छम·· छम ! आँख मुँदी, छम · छम से टकराकर एक धीमी, बहुत धीमी आवाज उसे हमेशा के लिए ठण्डा कर गयी।

गुलाबजल गँडेरियाँ···गँडेरियाँ गुलाबजल···धन्नो···

सितम्बर, 1952

कुछ नहीं—कोई नहीं

रूप !

मरकर मर जाने से बड़ा कोई दूसरा मरना नहीं होता। बार-बार सोचती हूँ, दिन में सौ बार सोचती हूँ और यही सोच-सोचकर तुम्हें लिखने बैठ गयी हूँ।

क्या लिखूँगी, नहीं जानती, बस एक ही बात मन में उठ आती है कि मरना सचमुच में मर जाना होता है। न तन रहता है, न राग, न अनुराग। अपने-आपको देखती हूँ और रो देती हूँ। रुलाई के ऐसे ही क्षणों में यह गीली आँखें तुम्हें याद कर लायी हैं।

रूप अब आनन्द नहीं, मैं ही रह गयी हूँ। महीने-भर की छोटी-सी बीमारी में आनन्द में जो आनन्द का था, मेरा था, वह सब चुक गया, सब झर गया।

अब न कभी वे दो आँखें मेरी यह आँखें देखेंगी, अब न कभी वे बाँहें इन बाँहों को छुएँगी, न कभी वह मीठी देह मुझ पर प्यार बरसायेगी जिसके लिए तन-मन का पानी उतार मैं एक दिन तुम्हारी गृहस्थी लाँघ आयी थी।

रूप, मन नहीं होता, कि तुम्हें यह सब लिखूँ। उस अभागी साँझ को, साँझ की कृतघ्नता को याद कर तुमसे कुछ कहूँ।

उस दिन जो इन झोली में डालकर तुम्हारे घर से निकली थी, आज वह सब आनन्द के साथ ही धूल हो गया है, फूल हो गया है। और वह जाने से उन दस वर्षों का इतिहास प्यासे बादल के बदरंग टुकड़ों की तरह जैसे मिट-मिटाकर शून्य में बिखर गया है। पीछे लौटती हूँ, आगे टटोलती हूँ—कुछ देख नहीं पाती हूँ, कुछ छू नहीं पाती हूँ, केवल आँखें पोंछती हूँ।

अपने सोचने पर झुँझलाती हूँ। क्यों आनन्द के जाते ही अपने-पराये को आँकने लगी हूँ। बच्चों में बैठती हूँ तो चाहती हूँ, उन्हें सगा समझूँ—उनकी

सगी बनूं पर उनके व्यथामय मौन में मैं नहीं होती। मेरे उमड़े हुए आँसुओं में उनकी खीच नहीं होती। एक-दूसरे को देखते ही न जाने कैसा घुटा-घुटा सकोच घिर आता है। अपने चेहरे पर टिकी नाते-रिश्तों की आँखें देखकर बड़े बेटे का झुका सिर देखती हूँ तो तुमसे टकरा लेनेवाले इस अभागे सिर को झुकाकर रह जाती हूँ, रूप! बार-बार एक ही बात मन में उठती है—क्यों मुझे ही वाली लीक बनकर इस परिवार का आगा-पीछा धूल कर देना था! रूप, आनन्द के न रह जाने पर उस ही गयी अनहोनी पर नहीं पछता रही हूँ पछताती हूँ, अपने उन दुर्भाग्य के क्षणों को जिनमें तन को ढीला छोड़ बहुत-कुछ टूक-टूक कर दिया। रूप, जान गयी हूँ जो प्रियजनों का, अपनों का परदा उघाड़ अपने मन की ओट ढूंढ लेता है उसकी ओट ओट नहीं होती। उसका प्यार भी जैसे प्यार नहीं होता। सच ही नहीं होता। होता तो आनन्द की बिछुरती आँखें एक सग जिये मेरे और अपने उस तन-मन के मोह को तुच्छ करके न मानती।

टेबिल लैम्प की मद्धम-सी रोशनी में आनन्द के सिरहाने बैठी हूँ।

'शिवा...'

'कहो आनन्द...'

'शिवा ...'

अनुरोध के इस स्वर को सुनकर माथा सहलाते हुए पूछती हूँ—'किसके लिए मन होता है आनन्द!' दुर्बल हाथ आग्रह से जैसे मेरी ओर झुकता है। प्यार में भीगकर कहती हूँ—'कहो तो आनन्द, जिस पर मन हो, कहो...'

क्षण-भर को आँखें मुझे टटोलती हैं, फिर झिझककर कण्ठ खुल आता है।

'अपने बच्चों को देखना चाहता हूँ शिवा।'

मैं सुन न सकने के कारण अपने हाथों पर रो देती हूँ, फिर आनन्द के पास सिर टेककर, यह सोच-सोचकर रोती हूँ कि ये बच्चे मेरे नहीं, केवल आनन्द के हैं—आनन्द के हैं।

रूप, तुमसे अलग हो जाने के बाद उस क्षण पहली बार अपने और तुम्हारे बच्चों के लिए मैं दर्द भर-भरकर रोयी थी, रोयी थी अपनी गोद के लिए जिसमें माँ की कोई प्रतिष्ठा बची नहीं रह गयी।

सुबह तार के नीचे अपना नाम लिखते-लिखते एक बार हाथ खिंचा और फिर जैसे मिटकर रह गया। यही लगा कि जिनके नाम सूचना जा रही है वही आनन्द के सगे हैं, वही आनन्द के अपने हैं। मैं नहीं।

मन में आ गयी इस 'नहीं' को आनन्द ने भी जैसे अस्वीकार नहीं किया।

नित्य की तरह दवा ली, तो आँखें ऊपर नहीं की और पल-पल निहारनेवाली मेरी अपनी दृष्टि बिछौने के गर्म कपड़ों में उलझकर रह गयी। चाहा कि एक बार पुरानी आँखों से अपने आनन्द को देखूँ, पर मन की व्यथा किसी गहरे उलाहने से आँखें अन्धी कर लायी।

शाम को प्याले में फल का रस लेकर आयी तो एकाएक ठिठक गयी। दोहरे अँधेरे में आनन्द की बन्द आँखें बिलकुल बन्द लगती थीं। दाहिना हाथ सिर पर से होता हुआ सिरहाने पर पड़ा था। पास आकर आँचल से माथा छुआ तो भीगा था।

पुराना सम्बोधन गले में घिर आया। उमड़कर हौले-से कहा, "नन्दी!" बीमारी में खोये खोये आनन्द ने क्षण-भर को पलकें उठायीं, अपरिचय से मुझे देखा और आँखें मूँद लीं।

उस रात, रूप, आनन्द के पास बैठे यही सोचती रही कि मेरी बहुत समझ मुझे फल नहीं आयी। तुम्हारे संग घर बसा ही लिया था तो इस निघर में मैं क्या लेने आ गयी थी! लिखते-लिखते झिझककर झुक आयी हूँ, रूप, यह सोचकर नहीं कि तुम्हें क्या लिख रही हूँ—यह सोचकर कि तुम इसे पढ़कर मुझे कितना अकृतज्ञ, कितना हीन समझोगे। मैं ही कब जानती थी कि एक दिन तुम्हीं से यह कहूँगी, तुम्हीं को यह लिखूँगी?

पिछले पहर कुर्सी पर बैठे ऊँघ रही थी कि थरथराता-सा गले में उठता आनन्द का स्वर सुनकर उठ बैठी।

'मोनू' बिन्नी चौ' नू'

पुकार की-सी आवाज़ लगती थी। उठकर पास आयी। बेसुधी की नींद थी। छूने के लिए हाथ बढ़ाते रुक गयी। उस क्षण बस यही लगा कि आनन्द, आनन्द नहीं—मैं, मैं नहीं और यह कमरा, रूप, तुम्हारे कमरे से ज़रा दूर—दूर हटकर है जहाँ मैं घर की स्वामिनी की तरह सोने से पहले बीमार पड़े मेहमान को देखने चली आयी हूँ। पर नहीं रूप, बीत गये दस वर्षों को किसी भी तरह एक क्षण बनाकर अपने को झुठलाया नहीं जा सकता।

घड़ी का घण्टा बजा, तो यही सोचकर रह गयी कि इस रात के अँधियारे में मुझे तुम्हारे और अपने पुराने घर की पहचान करने में बहुत देर हो गयी। बहुत—दस वर्षों के भीनों लम्बे सफर में याद आता एक वही क्षण। वही पल कहाँ से लौट आयेगा? कैसे लौट आयेगा?

रूप, सुबह डाक्टर मेहता लम्बी जाँच के बाद कमरे से बाहर आये तो अनुभवी डाक्टरी चेहरे पर न जाने कैसी ढीली निराशा थी।

'आनन्द कैसे हैं, डाक्टर···'

'जी कड़ा करो शिवा बहिन।'

मैं अनभीगी आवाज़ में पूछती हूँ—'डाक्टर, आनन्द कब तक रह सकेंगे ?'

डाक्टर आश्चर्य और सहानुभूति से क्षण-भर देखते रहे, फिर कुछ पढ़कर सुनानेवाली आवाज़ में बोले—'दस-बारह घण्टे · और।'

मैं जैसे अपने-आपसे कहती हूँ—'तब तक क्या बच्चे पहुँच सकेंगे ?'

इसका जवाब डाक्टर नहीं दे सके। उनसे आनन्द के पास जाने की प्रार्थना कर मैं रसोईघर की ओर चली गयी। हफ्तों बाद नौकर को नाश्ते का सामान दिया, वह सब बनाने को कहा जो आनन्द को भाता रहा था और घर-भर के कमरे, बरामदे, दालानों को देखती हुई अपने कमरे में पहुँच गयी। किसी अपरिचित की तरह एक नज़र देखा, कीमती परदे, भारी फर्नीचर, बढ़िया कार्पेट—इन सबके बीच खड़ी केवल मैं, स्वयं मैं ही हल्की लगती थी।

बच्चे आ गये। उन्हें लेने बरामदे में पहुँची तो अपरिचय से सकोच ने जैसे क्षण-भर को पैर बाँध दिये। एक-एक कहने को कुछ भी ढूँढ नहीं पायी। आनन्द का बेटा और बेटी ···'आम्रो मीनू'—आनन्द की-सी ही आवाज़ थी यह! सुनकर मानो व्यवहार ने मुझे उबार लिया।

बेटी को घेरकर कहा, 'मामी मीनू, विनय'' '

'पापा कहाँ हैं ?'

आनन्द के बेटे का वह पहला ठण्डा स्वर सुनकर कुछ ठिठकी, फिर सँभलकर कहा, 'नींद में हैं। अभी देखकर आयी हूँ। डाक्टर पास ही हैं, तब तक मुँह-हाथ धो नाश्ता कर लो।' कहकर कमरे में सामान डलवाने की आज्ञा दे मैं रसोईघर की ओर चली।

खाने के कमरे में दोनों बहन-भाइयों को एक साथ बैठे देखकर मन में आया कि बच्चे होने के नाते जिनके पिता का यह घर है उन्हें मैं किस अधिकार से अब तक वंचित किये बैठी थी। आनन्द कितनी बार आग्रह से बच्चों के लिए कुछ कहते-कहते रुक जाते थे। जाने कैसे मैं सुनते ही कड़ी हो आती और लगता कि जिस आनन्द के लिए मैं नाते-रिश्तों से अलग जा पड़ी हूँ, वह मुझ पर निठुराई करके ही उन बच्चों की ओर खिंचते हैं। पर आज तो उस अन्याय की बात सोच किसी का भी कुछ बननेवाला नहीं।

बच्चों को साथ लिये आनन्द के कमरे में आयी तो आनन्द करवट लिये पड़े थे। बच्चों ने भटकी-भटकी आँखों से पिता के अपरिचित कमरे का निरीक्षण किया और बरबस रो दिये।

डाक्टर, आनन्द इन बच्चों की पहचान कर सकेंगे ?' सुनकर विनय जैसे सब समझ गया। डाक्टर के निकट होकर पूछा, 'डाक्टर, पापा क्या बहुत बीमार हैं ?'

डाक्टर सिर हिलाते हैं और मीनू रोती है। मैं पीठ पर हाथ रख दिलासा देती हूँ—'रोओ नहीं मीनू, अभी जगेंगे '

घण्टे-भर बाद आनन्द हिले। रुके-रुके साँस लिया और कम्बल पर बाँहें फैला दीं।

डाक्टर के सकेत से उठकर पास आयी। हाथ सहलाया, आँखों पर हाथ फेरा और नींद में सोये बच्चों को जगाने के-से स्वर में बोली, 'आनन्द, आँखें खोलो। बच्चे आये हैं।'

कोई उत्तर नहीं आया। बेबसी से रोते दोनों बच्चे पास आ गये। चाहा कि आनन्द की-सी आँखोंवाली मीनू को 'बेटी' कहकर बुलाऊँ पर नहीं कह सकी।

'तुम पुकारो मीनू, शायद सुनेंगे।'

'पापा, पापा', भर-भर आते कण्ठ से 'पापा, पापा' रोते-रोते मीनू ने हिचकी ली। बेसुधी में ही आनन्द ने सिरहाने पर से सिर उठाने का प्रयत्न किया और आँखें खोल दीं। एक बार मेरी ओर देखा, फिर बच्चों की ओर, फिर मुझे और बच्चों की ओर बाँहें बढ़ा दीं। रूप, खड़े-खड़े उन तीनों को देखती रही। ऐसा लगा कि तीनों की आँखों में कोई एक ही है जो रो रहा है एक ही बाँहें हैं जो एक-दूसरे से लिपटी पड़ी हैं। न आनन्द कुछ दूसरे हैं, न मीनू, न विन्नी—और मैं ? मैं डाक्टर की तरह हूँ—इस कमरे में केवल यह क्षण निभाने के लिए, देखने-भर के नाते इस क्षण को झेल जाने के लिए।

रूप, और वह क्षण पूरी तरह निभ गया। मेरे और डाक्टर के देखते-देखते आनन्द के साथ वह दर्दीला दिन भी बुझ गया। बच्चे एक-दूसरे से लगे थे। यह नहीं कि मैं रोती नहीं थी। बार-बार आँखें पोंछती थी और उस घड़ी की याद कर-कर रोती थी, जब पहली बार आनन्द को देखकर मैं तुम्हें भूल गयी थी।

रूप, कहाँ चले गये हैं वे दिन और कहाँ चली आयी हूँ मैं ?

उन क्षणों में न मैं आनन्द को देखती थी, न आनन्द में आनन्द के अन्तिम अपने प्यार को देखती थी। अपने को देखती थी कि मैं कहाँ हूँ क्या हूँ। रात-भर बच्चों के साथ उस कमरे में बैठी रही। आनन्द की मुँदी आँखों पर कई बार झुकी और फटी-फटी-सी देखती रह गयी। यही लगा कि रात हो गयी है, रात हो गयी है।

जो एक बार बीतने लगता है वह तो सचमुच में ही बीत जाता है। फिर न कभी वे क्षण लौटते हैं न वे दिन! बस, एक याद लौटती है जो लौट-लौट-कर मन को रुलाती है। आज मैं किस किसको रोती हूँ रूप, यह तुमसे क्या कहूँ! जो कुछ भी याद हो आता है मन को बरसाता है। सर्दियों की वे धुपती दुपहरें आँखों में उतर आती हैं जब द्वार पर खड़ी-खड़ी मैं तुम्हारे आने की बाट जोहा करती थी। प्रतीक्षा में बार-बार द्वार पर जाती, बरामदे में बिछे कालीन की गरमाई तलवों को छूती तो कुछ ऐसा लगता कि कहीं कोई दुराव नहीं कभी नहीं। कुछ लगा है जो अपना है। रूप, लिखते लिखते हाथ रुक आया था। उन दिनोंवाले अपनेपन को खोकर किसी और को अपना कहने की साध मेरे मन में फिर कभी नहीं आयी। नीले परदोंवाली खिड़कियों में हाथ टेके तुम्हारे उस गम्भीर मुख को आज वर्षों बाद भी मैं बिल्कुल उसी तरह देख पा रही हूँ। तुम्हारे उतरे हुए विवर्ण-से चेहरे पर कुछ ऐसी छटपटाहट-सी लगती थी जैसे मेरे धूल में मिल जाने के पहले तुम स्वयं ही मेरी लज्जा से जूझ जाना चाहते हो। रूप उलाहना नहीं दे रही हूँ उस तुम्हारे गहरे दर्द का एक क्षण भी अगर उस शाम कुछ और होकर मुझ तक पहुँचता तो अपनी सारी निर्लज्जता समेट मैं तुम्हारे पाँवों पर लोट जाती। एक बार तुम अपना अधिकार तो परखते! भले ही अपने हाथों मेरी मिट्टी कर डालते। पर नहीं रूप, जो दुर्गति मेरे भाग्य में लिखी गयी थी उससे तुम ही मुझे क्योंकर उबार लेते!

उस रात सोने के कमरे में बैठे-बैठे भावना से, भय से तुम्हारी राह ताकती रही। नित्य की तरह नौकर पानी रखने आया, तो जाने क्यों घर की स्वामिनी की तरह उसकी ओर देख नहीं पायी। सन्देह का एक पल आता था और हिला हिलाकर लौट जाता था। द्वार पर पड़े पर्दे की ओर देखती रही कि अभी तुम्हारा हाथ इधर बढ़ेगा और फिर मेरी उस कृतज्ञता की ओर, और फिर फिर!

दो का घण्टा बजा, उठी और कई पल साथ बिछी शैय्या पर पड़े तुम्हारे सिरहाने की ओर देखती चली गयी। न कहीं तुम्हारे घुँघराले बाल दीखे, न तुम रूप, और न प्यार सहेजती तुम्हारी बाँहें

मुझे उस रात कुछ नहीं सूझता था। बस, एक आनन्द दीखते थे। पास, बिल्कुल पास, उन नर्म-नर्म सिरहानों पर भी—रूप, आज तक भी नहीं जानती हूँ कि उस रात तुम क्या करते रहे थे, पर आनन्द के लिए रो रोकर अधकची नींद में कुछ ऐसा ही दीखा था कि तुम साथ-न, टूटने से मेरे कमरे की दहलीज पर पत्थर बन खड़े हो और मैं उस दिन जैसे तुम्हारे बड़ेपन की चट्टान पर

से हो-होकर बहती थी—आनन्द की ओर''' सुबह आँखें खोलने से पहले एक छोटे-से क्षण को लगा कि आनन्द मुझ पर झुके हैं, पर मुझे घेरती हुई बाँहें आनन्द की नहीं, तुम्हारी हैं'''आज तक भी भूली नहीं हूँ कि उस रात आनन्द के लिए रोती थी, पर तुम्हें पुकारती थी—रूप, रूप ! जब तुम्हारे साथ बीत गये अपने प्यार को रोती थी, तो भर-भर आते कण्ठ से बस यही कहती थी—आनन्द, नन्दी !

सुबह उठी । सिरहाने पर तुम्हारा पत्र था । पढ़ते-पढ़ते कई बार आँखों से लगाया । जान गयी कि इसी में मेरी और आनन्द की मुक्ति है । पर वह मुक्ति मुझ तक कैसे पहुँची थी, रूप, यह सोचने की सुधि उस दिन मुझे नहीं थी । तुम्हारा वह संक्षिप्त-सा पत्र—'आनन्द को बुला दिया है, आते ही होंगे । शिमला जा रहा हूँ, जाने से पहले घर की सँभाल ठाकुर को दे जाना' और बस '

रूप, तुमने आनन्द को बुला दिया था'''उनके आने में देर नहीं हुई । अन्तिम बार उस घर से निकली तो तालियों का गुच्छा बूढ़े ठाकुर की ओर बढ़ाते-बढ़ाते कण्ठ रुँध गया । यह मैं क्या कर रही हूँ ? इस घर की सँभाल ठाकुर को सौंपती हूँ, पर अपनी सँभाल ' ?

रूप, इतने वर्षों बाद आज तुमसे झूठ नहीं कहूँगी । पल-भर को ठाकुर की विस्मयजनक आँखें किसी काली लीक की तरह दीख पड़ीं । लगा कि मुझे इसे लाँघना नहीं है, नहीं लाँघना है ' ! खड़े-खड़े अवश हाथों से गुच्छा फर्श पर जा गिरा । ठाकुर ने झुककर उठाया और सगेपन से कहा, 'बहू, खाली एक भण्डार की ताली दिये जातीं इन सबकी सँभाल तो '

आनन्द ने जैसे किसी दूसरे प्रदेश से बुलाकर कहा—'सामान लग गया है ''।'

रूप, बरामदे की नीचेवाली तीन सीढ़ियाँ मैं कैसे उतरी थी, कैसे गमले से टकराकर मैं गिरते-गिरते बची थी, कुछ पता नहीं । कार में बैठी तो एक बार फिर ठाकुर का चेहरा दीख पड़ा । डबडबाती आँखों से बूढ़े हाथ में थमी तालियाँ देखीं तो मन-ही-मन बोली—'ठाकुर, अब इस घर की सँभाल तुम्हीं करोगे''' तुम्हीं'' '

रूप, उस रात आनन्द के साथ होटल में पहुँचकर सोने से पहले कपड़े बदलते बदलते ठिठक गयी । सामने के बड़े दर्पण में एक बार अपने को देखा, एक बार अटैची से निकाले अपने पुराने कपड़ों की ओर देखा और उसी तरह अस्तव्यस्त ढंग से साड़ी लपेटकर बड़े कमरे में आयी और आनन्द को देख

सिर पकड़कर वहीं-का-वहीं खड़ी रह गयी···

यही सोचती रही कि आनन्द अपने हैं तो यह कपड़े किसके हैं! कपड़े अपने हैं तो फिर मैं किसकी हूँ! कुर्सी की बाँहों पर सिर रखकर सिसकने लगी।

'शिवा···'

काँपते-से कण्ठ में आनन्द का यह पहला सम्बोधन उस पल मुझे क्या कहता था, रूप, यह तुमसे नहीं कह सकूँगी।

उस रात के बाद बहुत-सी रातें आयीं और आती चली गयीं। आती चली गयीं उस दिन तक, जब एक-एक करके मैंने जाना कि अपने तन पर पहने आनन्द के कपड़ों में भी मैं उनकी नहीं, कुछ दूसरी हूँ।

रूप आज पिछली बातों को क्यों उघाड़ने बैठ गयी हूँ, नहीं जानती। बस, यही लग रहा है कि तुमसे बिछुड़ने के पहले के किसी अधिकार को लौटा लायी हूँ जिसके बूते पर यह सबकुछ तुमसे कहती चली जा रही हूँ।

रूप, शिमले रिज पर तुम्हें एक बार देखा था। आनन्द की प्रतीक्षा में खड़ी, आया के साथ जाती किसी सुन्दर-सी बच्ची को थपथपाने को ही थी कि एकाएक तुम्हारे पास से निकल जाने पर चौंक गयी। उतराई खत्म हो जाने पर तुम ओझल हो गये, पर जँगले के साथ लगे-लगे मैंने उस दिन पहली बार जान लिया कि पीठ कर लेना सचमुच में क्या होता है। क्या होता है आगे से पीछे हो जाना! मैं अटकी निगाह से तुम्हें ही नहीं, अपने पीछे को देखती रह गयी थी।

रूप, पता नहीं दुकान पर खड़े आनन्द की सतर्क आँखों ने तुम्हें देखा था कि नहीं, पर मेरे मुख पर जमी वह दृष्टि दूर-दूर तक उतरती चली गयी थी। खाने के बाद आनन्द जी कड़ा कर, अपने को सँभालते-सँभालते बोले, 'शिवा, रूप यहीं है।' मैं कुछ बोली नहीं। शाल की दोहरी तह जमाती रही।

'शिवा···!'

यह कैसा छटपटाहट का-सा स्वर था! आँखें ऊपर कीं तो आनन्द के बदले चेहरे को देखकर सहम गयी। कोई गहरी यातना मानो जकड़कर कुछ टूक-टूक किये जा रही थी। आनन्द पास आये और मेरे हाथ से शाल खींचते हुए निठुरता से बोले, 'रूप यहीं है, यह क्या तुम नहीं जानती?'

मैं भरपूर आँखों में याचना लिये रही।

'शिवा,' मेरे उत्तर न देने पर आनन्द उत्तेजित-से एक पग लौटे और फिर एकाएक आगे बढ़ मुझ पर झुकते हुए दर्दीले स्वर में कहा, 'शिवा, हम दोनों ने रूप को क्या कर दिया है···?'

रूप, रात-भर कमरे की बिजली जलती रही। मैं आनन्द को देखती थी,

आनन्द मुझे और फिर दोनों धीरे धीरे सिर झुकाये कहती तुम्हारी छाया को। आनन्द की वह पछतानी-सी पराजित दृष्टि मुझसे मानो बार-बार यही कहती थी—हमने क्या कर लिया है।

रूप जो हो ही जाये उसका फिर कहना-कराना किसके वश होता है! यह नहीं कि तुममें मोह नहीं था तुम्हारे दिये पर मे प्रीति नहीं थी—पर आनन्द के साथ उठ आये तूफान में जब एक बार घिरी तो डूबकर कहाँ से कहाँ बह गयी। अपने किये को कुछ छोटा मानकर नहीं कहती हूँ पर रूप कमा एक वह खिचाव था जो आँख बन्द किये बढ़ा आ रहा था! पास और पास और एक दिन सब बन्धन सब सीमाएं लाँघकर वह बिना देहरी के द्वार पर जा टिका।

महीनों होटल में रहने के बाद एक दिन आग्रह से बोली नन्दी अब घर चलो।

आनन्द जैसे सुनकर उलझ गये हों पर हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा शिवा क्या यहाँ अच्छा नहीं लगता?

नहीं आनन्द कब तक पड़े रहेंगे होटल में।

आनन्द एकाएक कोई शब्द नहीं ढूँढ़ पाये। कुछ खीझ के-से स्वर में बोले इतनी अच्छी जगह में भी उकता गयी?

उठकर पास चली आयी और मौन तिरस्कार से एक नजर देखकर बोली ठीक ही कहते हो आनन्द, ज़रूर बुरी नहीं बुरी तो मैं हूँ जिसे एक घर से निकाल तुम दूसरे घर का अधिकार नहीं देना चाहते।

सच्ची बात सुनने के झूठे क्रोध में आनन्द काँपने लगे। कन्धों से झँझोरकर बोले शिवा तुम्हें क्या हो गया है!

अपने को अलग करती हुई बोली आनन्द मुझे कुछ नहीं हुआ। जो होना था सो पहले हो चुका। अब होने-न होने के मानी एक बराबर हैं। नाते रिश्तों की छोटा कर देनेवाली नजरें मित्रों और परिचितों की उघाड़नेवाली दृष्टि और जी पर किसी बहुत बड़े अपराध का एक बोझ— रूप तुम्हें मैंने कम यातना नहीं दी तुम्हारे दर्द को कम निर्दयता से नहीं उछाला पर चारों ओर से खुली जिस गृहस्थी में मैंने इतने वर्ष बिता दिये उसमें न भली गृहस्थी का परदा था न परिवारवाले घर की-सी गरमाई थी बस दिन रात जागती एक प्यार की चाह थी। प्यास थी एक दूसरे को बाँध लेने की। एक दूसरे को जी लेने की। उन क्षणों से तुलना नहीं करती हूँ जब अपने प्यार को शब्दों में बाँध तुमसे कहा करती थी— रूप देर होती है अब जाओ अपने काम पर।

ग्रौर··· इस ग्रोर ग्रागे कुछ सोचने के लिए मुझे पहले भूल हो जाने दो रूप !

सरदियों की मेंह म भीगी साँझ। तुम्हें दो दिन बाद दौरे से लौटना था। ग्रानन्द घण्टों स पास बैठे थे ग्रौर मैं हाथ में बुनाई लिये जाने कैसी ग्राँखों स उन्हे देखती रही थी। देखती थी ग्रौर देख-देखकर ठिठक जाती थी। वह उमड़ता सा विवश-सा तुम्हारे मित्र का चेहरा—चाइना के ठण्डे लगते प्यालों में कॉफ़ी उडेलती उडेलती काँपकर रह गयी। ग्रानन्द न कॉफ़ी गिरते देख बढ़कर हाथ को थामना चाहा, कि हाथ स छूते ही ठहर गय। हाथ पर पड़े हाथ ग्राँखों स एक-दूसरे को कुछ कहते थे ग्रौर बह बह ग्राते थे। रूप, पिछले कई महीनों का सयम पल भर के लिए कड़ा होकर रुका ग्रौर रुकते ही पानी हो गया। ग्रानन्द मेरी ग्रोर घिरे, मैं उनकी ग्रोर।

'शिवा , ग्रानन्द ', 'शिवा ' हर बार सम्बोधन के साथ ज्वार उठता था ग्रौर किनारा को छूकर चला जाता था। फिर लौटने के लिए, एक बार फिर

रूप सुधि खो गयी। मैं, मैं नही, कुछ ग्रौर हो गयी ग्रौर इसके बाद तुम सब जानत हो।

रूप, तन का धर्म मन के धर्म स कुछ ग्रलग नहीं होता, ग्राज तक नहीं जानती थी, पर उस रात तुम्हें द्वार पर ग्राया जान भी मैं एकाएक ग्रानन्द से ग्रलग नहीं हो पायी। बाँहें खुलती नहीं थीं, नहीं खुलती थीं ग्रौर तुम खड़े-खड़े देखते थे मुझे ग्रौर ग्रानन्द को।

रूप, ग्रभागी वह घड़ी थी ग्रौर ग्रभागे हम दोनों थ जो तुम्हारे ग्रौर ग्रपने सौभाग्य से एक साथ ही दूर हो गय। ऐस भाग्यहीन हो गय जिन्हें कोई सा सौभाग्य नही सोहता। ग्राज ग्रकेली हो गयी हूँ। पर जैसे यह भी कोई नया दुर्भाग्य नहीं है। लगता है वही पुराने दुर्भाग्य को कहो है जो समय के साथ खुल-खुलकर मुझसे लिपटती जाती है।

रूप, गयी शाम मीनू ग्रौर विन्नी पास ग्राय। दिन भर बिछौने पर पड़ी थी। भरसक उदासी छिपाते हुए बोली, 'ग्राग्रो, बैठो।'

विनय की गम्भीर दृष्टि पल भर को मीनू की ग्रोर गयी ग्रौर साहस पाकर लौट ग्रायी। कुछ कहने को कहा, 'स्कूल कब खुलगा मीनू ?' मीनू न भाई की ग्रोर देखा ग्रौर सयानो क-स ढग स कहा, 'छुट्टी तो ग्राजकल नहीं पड़ती '

चुप रह गयी। बात ग्राग चलान का मन नहीं हुग्रा। कुछ देर रुककर पूछा, 'कॉफी लोगे विनय · ?'

'जी नहीं। धन्यवाद।'

शाल समेटती हुई उठ गयी। बैठे-बैठे आनन्द के बच्चों को देखने लगी। जिसके साथ अपना सबकुछ लगा दिया था, उस आनन्द के बच्चों की उस उदासीनता में छिपी कड़ुवाहट के लिए मुझे क्या कहना-सुनना है! कुछ नहीं। बैठे-बैठे पता नहीं क्या सोच रही थी कि सुना विनय कुछ कहता है।

ताऊजी तो इस घर को किराये पर उठाने को कह गये हैं। अब इसमें के सामान का क्या होगा ··· ?'

सुना और नहीं भी सुना। चुप रही।

विनय ने दुहराकर पूछा, 'सामान का क्या करना होगा ?'

पूछने की रुखाई पर ध्यान अटक गया और इतने दिनों बाद पहली बार बोध हुआ कि बच्चों के पास मेरे लिए, मुझे पुकारने के लिए कोई सम्बोधन नहीं।

'भैया, ताऊजी तो कहते थे यह सब बेच देना होगा···।'

पतले स्वर से ही पहचान पायी कि मीनू बोलती है।

कुछ कहने को ही थी कि अनायास उठ खड़ी हुई। नौकर को बुलाकर चाय के लिए कहा, खिड़कियाँ खोल परदे खींचे और बच्चों के सामने सोफ़े पर आन बैठी। सधत गले से कहा, 'सामान की चिन्ता न करो, कुछ-न-कुछ हो जायेगा। हाँ, कल जाकर बच्चों के लिए कपड़े ले आना विन्नी। सिलवाकर बँटवाना चाहती हूँ।'

विन्नी मानो कुछ झिझक गया। सकोच से कहा, 'ताऊजी ही जल्दी उधर आने का आदेश दे गये हैं।'

विन्नी के उस सकुचित चेहरे में विन्नी के पिता को देखती रही। वही ढंग है। वही अपनी सफ़ाई देने की उतावली।

पहली बार स्नेह-भरे स्वर में बोली, 'सोच मत करो विन्नू, सब ठीक हो जायेगा।'

चाय बनाकर बच्चों के आगे की तो जाने क्यों मन भर आया। जी में सोचा, अगर सबकुछ बीत ही जाना था तो आनन्द के रहते भी यह घर आनन्द के बच्चों से भरा रह सकता था। पर रूप, सब दिन तो सब बातें एक-सी नहीं सोची जातीं। बच्चों के कमरों से लौटकर अँधेरे में लेटी तो बार-बार अपने से यही कहती रही—अँधियारे में कुछ हाथ नहीं लगा। पराये प्यार का झूठा अधिकार तक नहीं। कोई दावा तक नहीं।

अगले दिन कपड़ों में लगी रही। विनय को साथ लिये ढेर-सा सामान

खरीदा। सिलवाने के लिए दर्जी बुलवाया और स्वय भी उनमें जुटी रही। कोई भारी आयोजन दीखता था। बिछौने, गद्दे, कम्बल, दिल चाहता था, सबकुछ बाँट दूँ। सबकुछ दे दूँ। घर-का-घर दान कर दूँ।

अगले दिन कपड़ों की बड़ी आलमारी खोली और एक-एक करके साड़ियाँ फर्श पर डालने लगी। विस्मित-सी मीनू पास आयी और बोली, 'इनका क्या होगा··? ये भी दे दी जायेंगी क्या ? इतनी कीमती साड़ियाँ··'

मीनू की ओर बिना देखे सूखे गले से कहा, 'अब इनका और क्या होगा ! समय ही चुक गया··।'

दुपहर ढलते अगणित बच्चों में कपड़े बँट गये। अनाथ बच्चों के अनाथ चेहरे कपड़ों पर झुकते थे और टुकर-टुकर मेरी ओर देखते थे। पास खड़े विनय से आज्ञा के-से स्वर में बोली, 'विनय छोटीवाली आलमारी से दो-चार सौ छुट्टे रुपये निकाल लाओ और मीनू, भाई से लेकर सबको पाँच-पाँच, दस-दस, देती जाओ।'

रुपये बाँटते बहन-भाई को देखती रही। पराई होने की निर्दयता से मन में सोचा कि यह दोनों भी अनाथों की पंक्ति से अलग नहीं। जब मैं ही इनकी कुछ नहीं होती हूँ···

रूप, आगे कुछ सोचा नहीं गया। कण्ठ भर आया। कठिनता से अपने को सँभाल बच्चों का भोजन परोसने लगी।

रूप, जैसे चलते-चलते अनायास दुर्भाग्य हाथ लग जाता है वैसे ही अगर कभी सौभाग्य की छाँह भी पकड़ाई में आ पाती ! पर अब मुझे ही किसके लिए आस बाँधनी है ? कोई आगे नहीं, पीछे नहीं। तुम्हारे और अपनी बच्ची के लिए चाहती हूँ न रोऊँ, पर मीनू को देखते ही जी का दिलासा बह जाता है। वह होती अगर तो मैं, नहीं रूप, उसके न होने से ही तो आज इतनी-सी लज्जा बची रह सकी है कि तुम्हारा नाम ले-लेकर तुम्हें सब लिखती चली गयी हूँ। उसी की बिछुड़ी ममता जैसे उमड़-उमड़कर कहती है··रूप··रूप··

रूप, मैं आज तुम्हारी कुछ नहीं हूँ। आनन्द के बच्चों को आनन्द का सब-कुछ सौंपकर तीन-चार दिन में यहाँ से चली जाऊँगी। फिर न कभी घर देखूँगी ·· न घर का सामान, न सामान से लिपटी अतीत की स्मृतियाँ ··। कहाँ रहूँगी, कहाँ जाऊँगी, कुछ पता नहीं। रूप, अब किसे आज जानना है मैं कहाँ हूँ—मैं क्या हूँ ? मैं किसी की कुछ नहीं, कोई नहीं···।

मार्च, 1955

टीलो ही टीलो

एक बार टीलो
दो बार टीलो
तीन बार टीलो
टीलो ही टीलो·· टीलो टीलो ··

बच्चों के चंचल ताजे स्वर गूंज-गूंज जाने लगे। टीलो टीलो · उत्साह से दौड़-दौड़ मानो टोलियां अलग-अलग दिशाओं से आकर जंगले के पास मिल गयी। अर्कों के रहस्य को छोटी छोटी मुस्कानों में समेटे नन्ही उँगलियां अधरों पर टिक गयी कि कहीं कोई बोल न निकल पाये। कहीं कोई भेद न निकल जाये। हाथ में दूध-पतरी और कोयले पकड़े दोनों ओर की बाल-सेनाएं अनुशासन में बंधी खड़ी रहीं। दोनों ओर के कप्तान आगे बढ़े, अपने-अपने हाथ में पकड़े दूध-पतरी और कोयले के टुकड़े चूमे—

"रात है कि तारा
तारा हमारा ··"

सबसे लम्बे बब्बू ने बढ़कर 'टॉस' की। हिलती बांहों के आवेश में ऊँचे ऊँचे स्वर एक बार फिर गूंजे—

"रात है कि तारा
तारा हमारा···"

रात नीचे बिछी रही और तारा ऊपर उभर आया! तालियां-तालियां ·· तारा हमारा!!

दूध-पतरीवाली टोली ने 'टॉस' में सचमुच तारा जीत लिया। उत्साह और चाव से हाथ हिले, सिर हिले और रात की ओर के नन्हे-मुन्ने पल-भर को हारे-

हारे से मौन खड़े रह गये। सामने से ललकार पड़ी—
"खोजने का दम है!"
पराजित टोली ने जैसे तरेरकर मार की—
"बहुत है, बहुत है।
ढूंढ़ने का दम है—
बहुत है, बहुत है!!"
"बहुत है कि कम है···"
यह जैसे हार जानेवालों का उपहास था! एक साथ कई गले मिलकर चिल्लाये—
"बहुत है, बहुत है
पास आकर देख लो
हिम्मत हो तो देख लो ··"
एकाएक सबको शान्त करती हुई पम्मी की छोटी-सी पतली आवाज आयी—
"हिम्मत दोनों ओर की—
एक बार टीलो
दो बार टीलो
तीन बार टीलो
टीलो ही टीलो!!!"
हाथों में दूध-पतरी लिये टोली चढ़ाई के लिए सँकरी-सी पगडण्डी पार कर गयी। कितने गम्भीर क्षण हैं, सकेतों से जुड़े-जुड़े। बोलचाल, खींचातानी, लड़ाई-झगड़ा सब चुक गया है। अब तो आँखें चौकन्नी हैं। कोयले के निशानों को ढूंढ़ने के लिए, ढूंढ़कर काटने के लिए···
अगुआई करता रज्जो खुमानी के पेड़ तले पहुँचकर रुक गया। एलान के-से बड़े स्वर में कहा—
"बड़ पत्थर के नीचे···"
आगे बढ़कर किसी ने पत्थर उलटाया और उछलकर दूर कूद गया। काले निशान की जगह पत्थर से लगा बिच्छू हिल रहा था। टीलो करवाती टोली इस सौभाग्य से खुश हो आयी। झाड़ में बैठे मुक्कू ने पत्थर के निशाने से बिच्छू को चित्त कर दिया!
साथियों को उत्साहित करने के लिए दम्मो ने आवाज़ दी—
"हिम्मत हो तो खोज लो ··"

रज्जू ने चारों ओर नजर दौड़ायी—जँगले के पिछवाड़े अपने बड़े भाई जत्ती के संग उँगली पकड़ चलती छोटी-सी मीनू ने तुक मिला दी—

'जँगले की पिछवाड़े

पिट गये किवाड़े

जत्ती ने घुड़की दी— चुप्प !

खड्ड की ओर बसी के बिना और कौन नीचे उतरकर टीलो देखेगा। अपने से छोटों को धकेलकर बसी आगे बढ़ आया। कलाबाजी में अपने प्रतिद्वन्द्वी रज्जो की ओर देखा और उछलकर जंगले पर हाथ टिकाकर नीचे लटक गया। रज्जो ने साँस रोके पूछा— कुछ दीखा ?

बसी ने हाथ की पकड़ कड़ी की सावधानी से घिसटते हुए ऊपर तक पहुँच कर फिर से छलाँग लगा दी।

रज्जो ने दुहराया— कुछ दीखा ?

कालू ने मुँह बिचकाते कहा—

बसी को क्या दीखा—

शेर के पीछे चीता !

रज्जो ने हाथ फैलाकर तरेरा— बोलोगे तो !

तो क्या पीटोगे ? —कालू ने ढिठाई से पूछा।

रज्जो रोब में आगे बढ़ा कि आवाज़ सुनकर रुक गया।

तीने की कोठरी में टीलो-टीलो

टोलियाँ कूदती-फाँदती उतराई उतर गयीं और लकड़ी की पुरानी कोठरियों के बन्द किवाड़ों के ऊपर नीचे छानबीन शुरू हो गयी। लकड़ी की मटमैली दहलीज पर काले ही-काले निशान

रज्जो हाथ बढ़ाकर सफ़ेदी से दो लकीरें खींचकर काटता चला गया और कई स्वर एक साथ गूँजे— टीलो-टीलो

किसी ने झट सुझाव दिया— कोठरी के पीछे।

पहाड़ के साथ लगी गज भर की गली में फैले निशानों की गिनती होती गयी और लकीरें खिचती गयीं ! बरमू के नलके पर सूखी ढाक के तख्तों पर टोकरियों के नीचे—

टीलो इनकी ढूढ लो

हाथ बढ़ाकर खींच दो।

रज्जो की उतावली टोली को दूना उत्साह देते हुए अस्पताल तक ले गयी। दोनों ओर के पहाड़ों की राह को बन्द किये लोहे का ऊँचा फाटक फाँदने में देर

नहीं लगी। एक के पीछे दूसरा, तीसरा, चौथा—सभी कूद-कूद गये!

मीनू जत्ती के कुरते का आस्तीन खींचते हुए बोली, "भैय्या, हमें कौन चढायेगा?" क्षण-भर को मीनू को साथ लाने के झंझट को देख जत्ती ने तेवर चढाया, फिर एकाएक बडप्पन से बहिन को उठाकर फाटक पार करवा दिया।

छोटे कद के पप्पी न सबसे पीछे एडियाँ उठायीं, हाथ ऊपर किये और अनुरोध के स्वर मे कहा, 'जत्ती भैय्या, हमें भी साथ लो!"

जत्ती पीछे मुडा और हँसकर बोला, "ठिगनू से, किसकी टोली में हो पप्पी!"

पप्पी ने पीले चेहरे पर अपनी बडी-बडी आँखें फैलायीं और जत्ती के पास आकर विश्वसनीय स्वर में कहा, "जत्ती भैय्या, तुम नहीं जानते, जो हारने लगता है, मैं तो उसी के साथ हो जाता हूँ—यह देखो, दोनों रंग हैं अपनी जेब मे।"

नन्ही-सी हथेली पर दूध-पनरी का छोटा सा टुकडा और कोयला चमकने लगा। जत्ती ने जैसे प्यार मे आकर, पतले-पतले बालोंवाले सिर पर धौल दिया और हल्का-सा धक्का देते हुए बोला, "आज तो बब्बू की टोली हारेगी।"

पप्पी ने सीधी राह पर से पगडण्डी पर छलांग मारी और मुडकर जत्ती से कहा "जत्ती भैय्या, बब्बू की टोली नहीं हारेगी—नहीं हारेगी"

मीनू के साथ जत्ती नीचे पहुँचा, तो अस्पताल से नीचे जाती उतराई के किनारे-किनारे पहाड पर कटी टोली की अगण्ति रेखाएँ चमक रही थी। विजयी टोली के साथ खडे रज्जो के चेहरे पर शेखी थी और साथी बार-बार तालियाँ पीटने थे—

"खूब बने थे अगुआ,

बब्बू बन गये बबुआ!!"

बब्बू ने जलती निगाह से एक बार रज्जो की ओर देखा और बरबस अपने को सँभालते हुए कहा, "रज्जो, पीटने को मैं ऐसा पीट सकता हूँ कि··· पर खेल आगे नहीं बढेगा।"

बब्बू की विवशता पर खिल-खिल जाती बहुत बडी मुस्कान रज्जो के ओठों पर उभरी और पलक झपकने के संकेत के साथ ही टोली-भर में फैल गयी।

रज्जो ने उपहास भरे स्वर मे पूछा, 'कहीं और भी है टोली? अब तो खेल खत्म हुआ समझो!"

बब्बू न जान बँधी आँखों से अपने साथियों की ओर देखा। नज़र कहती

थी—क्या सचमुच हार चले हैं · !

संकेत-ही-संकेत में कुछ कहा गया, कुछ सुना गया और एक साथ कई गले चिल्लाये—

"टीलो अभी बहुत है
हिम्मत हो तो ढूँढ लो।"

कदम फिर आगे बढ़े। उत्साह ने पलटा खाया। रज्जो को लगा, पीछे आती बब्बू की टोली उतनी पीछे नहीं जितनी पीछे वह समझ बैठा था। इस बार चाल में ढिलाई नहीं थी। संकेतों में निराशा नहीं थी।

स्लेट-पत्थर के नीचे—तीखी नज़र इस गोपनीय स्थान पर पहुँची।

पत्थर के ढेर-के ढेर उलटे हो गये, पर निशान कहीं दीखे नहीं!

रज्जो के हाथ दूध-पनरी लिये ठिठके रह गये—बब्बू की आँखों में चमक आयी। आगे बढ़कर कटाक्ष किया—"कहो कप्तान, अब किधर!"

"लाल सराय के आस-पास!"

रुककर ज़रा सा चौंककर बब्बू ने बेबसी की-सी हामी भरी और अपने साथियों की ओर देखकर रज्जो के पीछे-पीछे हो लिया! पासा फिर पलटा और अगली टोली तेज़ हो गयी!

"लाल सराय आया बच्चा,
हो जाय कट्टम-कट्टा।"

सराय के खुले आँगन में बच्चों के 'टीलो टीलो' के उन्मुक्त स्वर गूँज-गूँज जाने लगे। दोरमुंहे लोहे के नलके पर सबसे पहले रज्जो का हाथ पड़ा—कट्टम-कट्टा! बिजली के काले खम्बे पर—कट्टम-कट्टा! टीन की नीची छत—यह कट्टमकट्टा।

बब्बू ने हाथ मिलाया और बाँहें फैलाकर ज़ोर से कहा—

"हारने की सोचो मत,
हार जाय पतरी।
मेह हो, बरखा हो
काम आय छतरी!"

टोली-की-टोली नाच उठी और अगणित कोयलों के टुकड़े हवा में उछलने लगे।

"मेह हो, बरखा हो· ·"

रज्जो ने गला फाड़कर इस गूँज को चीर दिया।

लद्दाखी मुहल्ले—सुनते ही सराय खाली हो आयी और नन्हे-नन्हे आवारा

फुर्ती से चढ़ाई पर दौड़ने लगे। इस बार जत्ती का स्वर सबसे ऊँचा था—

"हारने की सोचो मत,

हार जाय पतरी !"

मस्जिद के आस-पास टीलो की ढूंढ पड़ी। देवदार के तने पर सैकड़ों की गिनती। दब्बू ने फीके मुंह से जत्ती की ओर देखा—आज तो सचमुच उन्हें हार जाना है। रज्जू ने उछल-उछलकर दीवार की मुंडेर तक हाथ बढ़ाये। टीली के हौसले बढ़ आये।

"अब भी टीलो खेलोगे ?"

दब्बू ने निराश-निराश आँखें दोनों की ओर फिरायीं—सब टीलो चुक गयी थी, अब हारने के सिवाय क्या चारा था ! एकाएक दूर नीचे खड्ड में से धीरे-धीरे ऊपर बढ़ती एक नन्हीं-सी छाया को पहचानकर सँभल गया। ध्यान से देखा तो खड्ड की पगडण्डी पर झुक-झुककर पप्पी ऊपर बढ़ा आ रहा था।

"अब भी टीलो खेलोगे ?"

दब्बू ने अपने को पूरी तरह हिला-हिलाकर सिर हिलाया—

"सौ बार खेलेंगे !"

"सौ बार जीतेंगे ! सौ बार, सौ बार" " इस जोश-भरी ललकार के साथ-साथ सभी आँखें खड्ड की ओर घूम गयीं।

"पप्पी है भई, पप्पी है !

जीत हमारी पक्की है…"

मुंह के आगे हाथ रखकर जत्ती ने जोर से पुकारा—"पप्पी !"

साथ ही कई स्वर मिलकर हवा में गूंज गये—"पप्पी !"

एकाएक आँखों में कुछ झलका, पप्पी ने हँसता हुआ पीला मुंह ऊपर किया, हाथ हिलाया, जैसे कहता हो—जीत तुम्हारी पक्की है…

पहाड़ पर पड़ते धूप के लिशकारे में पप्पी की नीली कमीज एक बार हिली, दो बार हिली—फिर एकाएक जैसे क्षण भर को, केवल क्षण-भर को पप्पी का हाथ ऊपर उठा और पलक झपकते खड्ड की गहराई में ओझल हो गया !

"पप्पी… !"

न कहीं पप्पी का सिर चमका, न कमीज, न पप्पी, न पप्पी की बाँहें…

सहमी-सहमी आँखें एक-दूसरे पर जमी रह गयीं। साँस रोके दब्बू ने बंसी का हाथ छुआ, जैसे कुछ अनुरोध करता हो—"बंसी, पप्पी…!"

बंसी ने देर नहीं की। एक बार खोयी-खोयी आँखों से दब्बू की ओर देखा, रज्जो की ओर देखा और सराय के दाहिने जाती पतली पगडण्डी से नीचे हो

चला ! बसी एक बार दीखता है, नहीं दीखता फिर दीखता है

झाड़ी की झाड़ से इधर निकलकर एक हाथ हवा मे हिलता है

नहीं, नही, पप्पी नहीं पप्पी कहीं नहीं ! !

साँस रोके दोनों टोलियाँ सड़क की सँकरी पगडण्डी से ऊपर आते बसी को देखती रहीं ।

बसी सँभल-सँभलकर पाँव उठाता मुड़कर पीछे की ओर देखता फिर आगे की ओर कदम उठाता । सराय के पिछवाड़े पहुँचते-पहुँचते उसका चेहरा दीखने लगा था । झुकी झुकी उदास आँखें, ढीली बाँहें

ऊपर पहुँचा तो कोई कुछ पूछने को आगे नहीं बढ़ा, कोई कुछ कहने को आगे नही हुआ । भयभीत आँखों के जोड़ टुकर-टुकर तकते रहे

कई क्षण बाद बब्बू ने अस्फुट स्वर मे पूछा, बसी, पप्पी ?'

बसी ने आँखें नही मिलायीं केवल सिर हिलाया हाथ हिलाया—नहीं !

रज्जो ने कठिनता से घुटते गले को खोला—'पप्पी नहीं ?"

नहीं और बस !

सिर डाले एक-दूसरे के आगे पीछे बच्चों की दो टोलियाँ चली जा रही हैं। उदास, चुपचाप !

'भैय्या पानी पियूँगी ' मीनू ने चौराहे पर नल देखा और मचल पड़ी—'भैय्या ••"

जत्ती कुछ बोला नही । छोटे-छोटे पाँव उठाती मीनू की उँगली पकड़े चढ़ाई की ओर खींचता लिये चला ।

"जत्ती भैय्या, हमारा भी हाथ थाम लो "

जत्ती ने मुड़कर एकबारगी फिर पीछे की ओर देखा—दूर सड़क में ।

एकाएक सीमेंट की सीढ़ियों पर दोनों टोलियाँ रुक गयीं। सबके घर दीखने लगे थे । जत्ती के घर के साथ लगा पप्पी का घर टीन की छत पर पप्पी के कपड़े सूख रहे थे • कौन आगे बढ़ेगा, कौन खबर करेगा भय में डूबे मन-ही-मन सबने दोहराया•• बब्बो, रज्जो, बसी •

आशंका से बब्बो का कण्ठ भर आया । जत्ती का कुरता छूकर बोला, 'जत्ती, तुम कहना, तुम कहना तुम्हीं कहोगे जत्ती '

रज्जो ने सूखते गले से, धीमे-से कहा, "बसी, पप्पी वहाँ सचमुच नहीं था ?'

बसी ने सिर हिलाया—"नहीं !"

"छिपा होगा।"—कालू की आवाज में चिन्ता नहीं, खिलवाड़ थी । रज्जो

से इस लापरवाही के-से बोल को झेला नहीं गया। आगे बढ़कर कान उमेठे और आँखों से तरेरकर कहा, "चुप रहो!"

बारी-बारी से, एक-दूसरे से छिपे-छिपे सबने पीछे की ओर देखा, सराय तक की पगडण्डी खाली पड़ी थी।

पप्पी—पप्पी—पप्पी!

जत्ती कई क्षण साथ-साथ लगे अपने और पप्पी के घर की ओर देखता रहा, फिर एकाएक मीनू को पास से धकेलते हुए ऊपर भाग चला। पप्पी के घर की सीढ़ियों पर जी धड़कने लगा। बरामदे का दरवाज़ा खुला था। कमरे की दहलीज़ पर रुका तो मौसी को मशीन के आगे बैठे देख सहम गया। मौसी ने सिर उठाया, दाँत से तागा तोड़कर हँसते हुए बोली, "क्यों जत्ती, अभी टीलो चुकी नहीं? पप्पी दुपहर का घर से निकला…"

"मौसी…" जत्ती पास होकर मशीन पर झुक आया।

मौसी प्यार से सिर पर थाप देते-देते रुक आयी। देखा, जत्ती के उड़े-उड़े चेहरे पर घबराहट थी, डर था।

"किसी से मारपीट हुई क्या?"

"नहीं…"

मौसी फिर हँसी… "टीलो में हारे हो न!"

"नहीं…"

इनकार के इस करुण स्वर से मौसी जैसे भयभीत हो गयी—"पप्पी तो नहीं लड़ा किसी से…?"

अटक-अटककर कुछ कहना चाहते हुए भी जत्ती ने केवल सिर हिला दिया—"नहीं!"

मौसी कुछ समझ नहीं पायी। मशीन की हत्थी पर हाथ टेकते हुए पूछा, "बोल, पप्पी कहाँ है—कहाँ छोड़ आया उसे?"

मौसी ने सूई के नीचे कपड़ा रखा और जत्ती की हिचकी सुनकर ठिठक गयी। रोते-रोते—"मौसी, पप्पी…" आवाज़ आँसुओं में बह गयी। मौसी ने सहमकर जत्ती का कन्धा हिलाते हुए पूछा, "पप्पी है कहाँ?"

"मौसी…"

जत्ती ने बड़े-बड़े आँसुओं को बह जाने दिया और आँखों पर हाथ रखकर रुलाई के स्वर में बोला, "खड्ड में—मौसी, पप्पी खड्ड में नीचे…"

"पप्पी…" —मौसी ने चीख मारी और बेहोश हो गयी।

टोली जहाँ खड़ी थी, खड़ी रही और दिन ढलते-ढलते उन्हीं सीढ़ियों पर बैठ गयी। न कोई कुछ बोलता है, न कोई कुछ कहता है। नज़रें बार-बार सरायवाली खड्ड की ओर उठती हैं और लौट आती हैं। कुछ देर पहले सफ़ेद कपड़े से पप्पी को ढाँककर दो सिपाहियों के साथ पप्पी के पापा इन्हीं सीढ़ियों से नीचे उतर गये थे। पर उस कपड़े में से पप्पी तो दीखता नहीं था।

वह पप्पी के कपड़े ही या पप्पी का सिर था या टीलो खींचते दो गोरे-गोरे हाथ भी थे। क्या था कपड़े के नीचे—अब क्या पप्पी इन सीढ़ियों पर कभी नहीं आयेगा? अब वह अपने नन्हे हाथों से कभी हार जानेवाली टोली की टीलो नहीं खींचेगा। अब कभी वह अपनी पतली-सी आवाज़ से टीलो नहीं बोलेगा।

टीलो-टीलो

अपने-अपने बिछौने में पड़े पप्पी के साथी रात-भर उस खड्ड के आस-पास घूमते रहे। दूर-दूर सराय के नीचे सब टीलो ही टीलो है। काली रेखाओं से बड़े-बड़े पत्थर भरे हैं। 'लाल पानी' को जाता पगडण्डी की घनी छाँह पप्पी के नन्हे-नन्हे हाथों के रहस्य को समेटे चुपचाप वृक्षों के घेरे में लगी खड़ी है।

पेड़ के पीछे छिपा पप्पी एकाएक सिर निकालकर हँसता है—

टीलो मेरी काली है,

मैंने हार बचा ली है।

जत्ती देर तक लेटा-लेटा अपनी खिड़की से पप्पी के घर की खिड़की देखता रहा। पास-पड़ोसियों के संग जत्ती के पापा चुपचाप सिर झुकाये घर लौट आये हैं। पप्पी के घर से कोई आवाज़ नहीं आती, सिर्फ़ बीच-बीच में मौसी की हिचकियाँ सुन पड़ती हैं।

जत्ती की पलकें झपकीं। नींद में देखा बिछौने के पास पप्पी खड़ा है। कन्धा हिलाकर कहता है—'उठो जत्ती भैय्या, उठो मीनू, बब्बू की टोली तो जीत गयी। वह देखो खड्ड में काली टीलो। अगली बार मैं दूध-पतरी की ओर जाऊँगा। रज्जो को जिताऊँगा'…'

जत्ती सुबह देर से उठा तो कानों में एक ही गूँज थी—'रज्जो को जिताऊँगा…'

मुँह हाथ धो बिना नाश्ता लिये जल्दी-जल्दी बाहर निकल आया। पप्पी के बरामदे की ओर आँखें उठायीं तो जंगले पर हाथ रखे पप्पी नहीं, मौसी खड़ी थी। देखते ही सहम गया। आँख बचाकर चबूतरे के एक ओर जा लगा।

"जत्ती, जत्ती…" भर-भर आते कण्ठ से मौसी ने आवाज़ दी।

जाने किस सकोच और डर से जत्ती दीवार के साथ लगा खड़ा रह गया।

मौसी ने तनिक झुककर सिर हिलाते हुए अनुरोध किया—"जत्ती ! इधर आओ।"

सीढ़ियों पर बढ़ते हुए जत्ती के पैरों की आहट नहीं हुई। चुपचाप पास आन खड़ा हुआ तो मौसी कुछ बोल नहीं सकी। रुक-रुककर साँस लेती थी और रोती थी। देर बाद हाथ से जत्ती को छुआ, कुछ कहने को हुई कि और भी ज़ोर से रो पड़ी।

"मौसी…"

मौसी को कुछ कहना चाहते हुए उन दो नन्हीं आँखों पर जाने कैसी धुन्ध छा गयी कि कुछ कहते नहीं बना।

मौसी ने धोती के छोर से जत्ती की आँखें पोंछीं और भर्राये कण्ठ से पूछा, "जत्ती, मेरा पप्पी कुछ कहता था ?"

जत्ती ने सिर हिलाया।

"बोल बेटा, क्या कहता था …?"

जत्ती क्षण-भर लालसराय की छत की ओर देखता रहा, फिर आँखों की बरसात को मौसी की झोली में छिपाकर सिसकते हुए बोला, "यही कहता था, 'जत्ती भैय्या' बच्चों को जिताऊँगा'…" मौसी ने हिचकी ली, साथ लगे जत्ती का सिर उठाया, भरपूर अनुरोध से पूछा, "कुछ और भी…?"

जत्ती ने सिर हिलाकर रोते-रोते कहा, "हिम्मत दोनों ओर की…एक बार टीलो…"

पप्पी की माँ जत्ती की गीली आँखों में पप्पी को ढूंढ़ती रही—पप्पी के बिछोह को झेल लेनेवाली हिम्मत को ढूंढ़ती रही और सुनती रही जत्ती के गले में निकलती पप्पी की पतली-पतली आवाज़ को—

"हिम्मत दोनों ओर की—
एक बार टीलो
दो बार टीलो
टीलो ही टीलो…"

अगस्त, 1954

अभी उसी दिन ही तो

जाड़े में डूबी-डूबी अँधियारी साँझ ! आकाश के परदे पर बादलों के बनते-मिटते चित्र फैल रहे थे—ठिठुरती हवाएँ जा-जाकर लौटती आ रही थीं, आँगन का पुराना पीपल खड़ा-खड़ा डोल रहा था। पशमीने के मटमैले शाल को समेटे सकुन्ती ने एक बार बुझे-बुझे भारी मन से पश्चिम की ओर देखा, पीपल की डोलती पतली टहनियों की ओर देखा और थके भाव से डोलती अन्दर आ बैठी। घर पर मौन है। बहुएँ-बेटे आज सब बाहर हैं। नये वर्ष का नया पहला दिन। नयी उमंग, नयी उम्मीदें और नये स्वप्न। सकुन्ती ने सिकुड़ी उँगलियाँ आँखों पर फेरीं—नये स्वप्न। धुँधला-धुँधला देखनेवाली आँखें आँचल से पुँछकर रह गयीं। अब नये स्वप्न''' ? यह घर—अपना घर, जिसमें रहनेवाले प्राणी के कण-कण पर उसके निर्माण की छाप है, आज एक छूटा हुआ, बीता हुआ स्वप्न-भर क्यों लगता है ! उसके राजकुमार-से बेटे, सुन्दर-सलोनी बहुएँ और भोले-भाले पोते-पोतियाँ—अतीत के उन मीठे आलिंगनों ने कितने नये बन्धनों और सीमाओं का निर्माण कर दिया—पर जाने क्यों आज के इन गुथे-गुथे डोरों में वह किसी मनचाही गुजल की तरह अटकी पड़ी है ! यह घर उसका है, उसका अपना है, तब से है जब इस आँगन में वह अधिकारपूर्ण गर्व से नन्हे-नन्हे बच्चों की देख-भाल करते-करते खीज और ममता से मुस्करा दिया करती थी। और उस मुस्कराहट को प्यार से चूम लेनेवाली पति की वह मीठी और अपनेपन में घुली दृष्टि'''और उस दृष्टि का अनुसरण करनेवाली वह स्वयं ' आज कहाँ हैं वे दिन—खुले-खुले हल्के, और बँधी-बँधी उनींदी रातें ' एक जमाना बीत गया लगता है। बच्चों की किलकारियों से घिरी-घिरी साँझ में उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा। सुरुचिपूर्ण सहेजे घर में वह पति का स्वागत कर रही है। बच्चे पिता से लिपटे

जा रहे हैं और वह गहरे सन्तोष में खाने के प्रबन्ध में व्यस्त। उसका अपना परिवार, जिस पर मीठे-मीठे दिन-रात—जैसे बिना जाने ही वर्षों तक बीतते गये। अपनत्व की छाँह में उल्लासमय स्वप्न खिलते रहे।

और एक दिन बच्चों की गम्भीर मुद्राओं के मध्य गहरी काली अमावस की रात उनके आँचल तक फैल गयी—उसको निरखनेवाली दो आँखें मुँद गयीं, माँग की सिन्दूरी रेखा पुँछ गयी और दिन के उजाले के साथ उसके रंग-बिरंगे मीने-कढ़ों की छाया बदल गयी। घर पर, उस पर रक्षक की तरह छायी रहनेवाली पति की उपस्थिति उड़ गयी और उस उपस्थिति में उपजी उसकी अपनी सत्ता जैसे अपने लिए सदा के लिए मिट गयी।

फिर फीके-फीके सूखे दिन। घर का प्रबन्ध और बच्चों का नियन्त्रण। माँ के अनुशासन से अलग उसके नियन्त्रण में अब जैसे अपनी सत्ता का मोह नहीं शेष रह गया था—एक कर्त्तव्य-भर था जिसे अब पति के सहयोग के बिना उसे निभाना था।

सकुन्ती टिक-टिक करती घड़ी की ओर देखती है। रात सिर पर उतरी आ रही है। और बच्चे अपने परिवारों-सहित अभी तक नहीं लौटे। घर-भर में कोई आहट नहीं, सिवाय इसके कि रसोईघर की ओट में नौकर बरतनों से उलझ रहे हैं। बाहर तीखी ठण्डी हवाएँ पेड़ों को झुलाती चली जा रही हैं। एक ऐसा ही सिहरता-सा दिन था—जब वह नर्म-नर्म गर्म कपड़ों में अपने को समेटे अन्तिम बार सहदेव के घर में लौटी आ रही थी। और फिर उसके बाद वह मधुर क्षण बहनेवाले दिन कभी नहीं लौटे। कैसी रात थी वह? देर तक सिरहाने पर बिखरे-बिखरे बालों से ढँकी दो छलछलाती आँखें—उसे लगा था कि अब उन पलकों में उस भारी-भारी बिदाई के बाद कोई रंग नहीं आयेगा। पर एक दिन शहनाई के स्वरों ने उसे रुलाकर हँसा दिया। नयनों का रंग बदला, अधर मुस्कराये, चाँदनी में धुले आकाश पर रुपहला चाँद निकल आया, स्वप्नों ने करवट ली। आँखें खुलीं तो उनमें कोई चित्र नहीं, उसे थाम लेनेवाली दो बाँहें रम चुकी थीं। लेकिन आज—आज वह दिन न होने-से लगते हैं। इतनी दूर छूट चुके हैं वह चित्र और चित्रों को सँजोनेवाले! नये वर्ष तब भी आते थे—प्रियजनों की ढेर-सी शुभकामनाओं में जैसे पति-पत्नी की शुभकामनाओं की छाया सबसे गहरी और अपनी होती थी। आज शाम बच्चों को बाहर जाते देख सकुन्ती न जाने कैसी हो गयी थी। बेटों के गम्भीर चेहरों पर गर्वपूर्ण मुस्कराहट ऐसे बिछी थी जैसे अपने-अपने परिवार के लिए नवेला करना स्वामित्व का बोझ। उसका मातृत्व मन-ही-मन सन्तोष में भीग गया था। जिन दिनों की

कल्पना कर वह बच्चों को गोदी में डाले-डाले लोरियाँ गाया करती थी, वे दिन आज उसकी पकड़ में हैं। और सीढ़ियों पर से उतरती उसके बेटों की परछाइयाँ उसे हरे-भरे छाँहदार वृक्षों की तरह लगी थी, जिनकी नयी-नयी शाखाएँ दूर-दूर तक फैलती जाती हैं।

उनके पीछे द्वार बन्द होते ही, घर-भर का सूनापन अन्तर में भर गया। लगा, जीवन के उल्लास और विश्वास के लिए वह जड़ हो गयी है और वह जड़ता बुढ़ापे के साथ-साथ उस पर छायी जा रही है। एकाएक अपने विवाह के बादवाला दिन आँखों में झूम गया जब पहले-पहल वह सास के पाँव लगी थी। वर्षों के भार से झुकी देह, सिकुड़ी चमड़ी—और अपने सिर पर आशीर्वाद वाला काँपता हाथ—सकुन्ती ने अनजाने में ही सिहरकर सोचा था कि सास की आशीष में उनके अपने बीते हुए जीवन की ममता उमड़ आयी थी। पर··· उस स्पर्श में वह वृद्ध हाथ नहीं, बिछुड़ते जीवन का मोह काँप गया था। और आज—आज सकुन्ती स्वयं वृद्धा है, वह वृद्धा है जिसके लिए नये वर्ष का नया दिन अब नया नहीं रह गया।

सकुन्ती थके-थके मन से उठी—शाल उतारकर कुर्सी पर रखा और जाकर बिछौने पर लेट गयी। कितनी सरदी का दिन है आज! अच्छी तरह कपड़ा लपेटा। सोचा इतने बर्षों बाद की थकान के बाद आज भी इस सिरहान पर सिर डाल देने से सुख होता है। शायद वह सुख उन बीते हुए क्षणों को, वर्षों की देन है जो आज भी उससे छूटा नहीं। संग छूटा, साथ छूटा—पर यह, इसका राग-रूप बदल-बदल जाने पर भी इसका मोह-सत्य नहीं छूटा। पति के मरने के बाद, बच्चों को ढाँढस बँधाकर, जब वह पहली रात उस सूने कमरे में सोने गयी थी तो देहरी पर ही पाँव जैसे जड़ हो गये थे। और फिर क्षण-भर बाद हमेशा-हमेशा के लिए शान्त हो जानेवाला अन्धड़ उस पर से होकर गुजर गया था। आज उसके ऊपर की घनी छाया मिट गयी थी, और किसी के हाथों में सँभली हुई काया—सकुन्ती हाहाकार करके बिछौने पर गिर पड़ी थी। वही सबकुछ था, लेकिन बदला हुआ, वही रात थी जिसकी गहराई उसे दिन में विभोर कर दिया करती थी—पर आज वह उसे अन्धा कर गयी। अब से इन आँखों में दिन का फीकापन होगा और रात में रूप-रंग विहीन नींद।

सकुन्ती ने आँखें बन्द कर लीं। उसे अब यह सब क्यों सोचना है! समय नहीं बीता, वह स्वयं बीत गयी। कभी बहुओं की दूर-दूर रहनेवाली नम्र दृष्टि की जाँच कर जी में आता है कि जिन्हें पहले मधुर दिनों का आभास—मात्र परिचय भी नहीं, वे सास को किसी और दृष्टि से क्योंकर देख सकती हैं। फिर

आज तो उनकी मोह में डूबी-डूबी आँखें पीछे नहीं—आगे देख रही हैं, जहाँ पति की छाया में सिमटता उनका आँचल है और उस आँचल में लिपटते उनके बच्चे। अब सकुन्ती तो पिछवाड़े है।

सीढ़ियों पर आहट हुई। बच्चे लौट आये हैं। सकुन्ती ने आँखें खोलीं। बच्चे उसे बिना मिले अपने-अपने कमरों को लौट जायेंगे? सामने के बरामदे से बच्चों की उछलती-कूदती आहट दूर हो गयी। सकुन्ती ने एक लम्बा निश्वास लिया, और आँखें मूंद लीं। आज नये वर्ष के नये दिन, इस बीती हुई पुरानी याद को कौन याद करेगा!

सकुन्ती की पलकों में अतीत के घने स्वप्न तैर रहे थे। तन से लिपटी पराजय मूर्च्छा, उसे समझने की क्षमता उसमें शायद अब नहीं थी। देर गये, कन्धों पर बोझ का स्पर्श पाकर धीरे-से आँखें खोलीं तो उस पर झुकी उसके बड़े बेटे की दो गीली आँखें झाँक रही थीं। क्षण-भर अपलक देखती रह गयी। वही आँखें हैं—वही स्वच्छ और नीली दृष्टि—पर नहीं, उसमें आज कुछ और भी है। सकुन्ती ने सूखा दुर्बल हाथ बेटे के सिर की ओर बढ़ाया—सिर उसके वक्ष पर झुक गया, और जब उठा तो आँखों में, सकुन्ती को लगा, नये वर्ष का नहीं, अन्तिम वर्ष की विदाई का बोध था। मोह-ममता छलछलाकर काँपते स्वर में बोली, "सुखी रहो" " बेटे ने आवेश से एक बार माँ का आलिंगन किया और आँखों में विवशता भरकर दबे पाँव बाहर हो गया।

इस बार सकुन्ती ने आँखें नहीं खोलीं। इस ठिठुरती रात में उसका बेटा—जो ''उसे सबसे अधिक जानता है—उसे भूला नहीं, नहीं भूला। अभी उसी दिन तो आँखों के अन्दर उसके बचपन की तस्वीरें घूम गयीं और पलकों के बाहर आँसुओं की अनछुई दो लड़ियाँ—जिन्हें पोंछनेवाली आज की ठिठुरती रात के सिवाय और कोई न था।

दिसम्बर, 1952

दोहरी सांझ

सांझ दोहरी होने को आयी। सूरज की डूबती-डूबती छाया ऊंचे गुम्बद पर घिर आयी। खण्डहरों में खड़े पके पत्तों के पेड़ हवा से खड़खड़ाये और धरती पर बिखर गये। चबूतरे पर हवा थिरकती रही। जंगले में पथरीली जाली जैसे अपनी ही कारीगरी में जकड़ी रही। मिट्टी और पत्थर की छाया से लिपट-लिपट सांझ की उदासी सिकुड़ती रही।

जया ने सीढ़ियों से उतरते उतरते अविनाश की बांह थामी। जी उदास हो आया। बिछुड़े वर्षों की आंखों में छूट गये, भूल गये चेहरे उभर-उभर आये।

"इधर आओ माँ, संभलकर पग धरो···" अविनाश ने माँ को घेरते हुए थामा। बेटे के बलिष्ठ हाथों के नीचे भी बांह हल्के से कांपकर रह गयी।

'इधर आओ, इधर आओ जया—जया

माँ के पांव सधे नहीं। ऊपर का अन्धकार उसके पैरों तले बिछता चला जा रहा है। अवश सी देह से लगा आंचल सिहरता है।

'जया संभलकर, दूर मत रहो इधर आओ न '

माँ का विवश-सा बोझ यत्न से संभाले अविनाश धीमी चाल से चला जा रहा है।

माँ चुप है, पर जैसे कहीं दूर—दूर की आहट पर सुन रही है।

'जया, इस स्थल को, इस सांझ को तुम भूलोगी नहीं—नहीं भूलोगी जया···'

गहरा मीठा अनुरोध।

और जया के कण्ठ नहीं, आंखों की पलकें महेन्द्र के हाथों पर झुक जाती हैं। वह नहीं भूलेगी इस शाम को, अपने को और महेन्द्र की उस मोह में भीगी दृष्टि

को। महेन्द्र और जया ऊपर से नीचे उतरे आ रहे हैं। हाथ को हाथ थामे हैं और उन हाथों के नीचे मोह का आवेश है।

जया—

'कहो महेन • '

जया•• '—यह प्यार की आवाज है। इस बार जया सिहरती नहीं। अविनाश की बाँहों पर झुकती है। झुकती है और सिमटती है।

'माँ, क्या जी अच्छा नहीं•••?"

माँ बेटे की बाँह पर हल्का, बीता हुआ-सा हाथ फेरती है। और—विलग हो गये क्षण साँझ की हवा में तैरते हैं। अविनाश का भीगा दबाव जया के तन को छूता है।

कितने सगे बोल हैं, पर सगापन इनका माँ तक नहीं पहुँचता।

"थक गयी हो माँ क्या•••पल-भर आराम करो • दीवार पर बैठ सकोगी•••?"

माँ मौन है, पर बैठती है। ऊँचे-ऊँचे गुम्बद और मीनारों की आकृति गाढ़ी हो रही है। और उस गाढ़ी छाया तले महेन्द्र और जया। जया चाँद की श्वेत रेखा देखती है और सिर झुकाती है। महेन्द्र खिलखिलाकर जया की ओर देखते हैं। कैसा है यह देखना ! 'जया, मैं ऊपर नहीं—अपने पास देखूँगा • ' और महेन्द्र की आँखें बरबस कहती हैं—'तुम्हारे पास झुकूँगा।'

जया बढ़ते हुए आलिंगन हाथों पर झेलती है और भटकते-भटकते लौटकर कहती है—'ऐसे नहीं महेन • ' महेन्द्र ठिठकते हैं। बँधा-बँधा मोह जया की। ओर देखता है। शब्द नहीं हैं पर आँखें कहती हैं—'इस अटक को पार करूँगा जया, एक दिन अवश्य करूँगा • '

पर वह अटक कब पार हो सकती ! नहीं हो सकी। समय उन हाथों से निकलकर दूर जा गिरा। जया और महेन्द्र फिर ऐसी साँझ में कभी नहीं मिल सके। नहीं मिल सके।

"माँ, पतझर की ये कैसी रूखी-सूखी हवाएँ हैं, मन को उदास कर जाती हैं।"

बेटे के सिर को सहलाते हाथ में प्यार कितना गहरा है, यह अविनाश समझता है। माँ कुछ कहना चाहती है, पर कह नहीं पाती। यही तो उसका भगवान, धीमे धीमे हिलनेवाला हाथ कह रहा है।

"अवि, अवि"—अविनाश चौंकता नहीं, बँध जाता है, 'अवि' करके उसे माँ नहीं, छाया बुलाती है और आज ऐसे बुझे-बुझे अँधेरे में माँ कहती है, "अवि•••"

अविनाश ममता से माँ को घेरता है। माँ एक बार याद करती है और भूलती है। भूलती है और याद करती है।

'महेन, उस राह पर से जरा हटकर भी हम मिल सकते थे। मिल न सकना क्या हमेशा-हमेशा के लिए बिछुड़ जाना होता है!'

"माँ..."

"कहो अवि..."

"माँ, पूछता नहीं हूँ—कहता हूँ, छाया के लिए ऐसी कठोर क्यों हो गयी हो तुम!"

बेटे के कहने में माँ के लिए उलाहना नहीं—स्वीकृति के बाद उदासीनता दिखनेवाली वेदना थी। जया ने अविनाश को देखा और नहीं देखा। अविनाश ने माँ को देखा और नहीं देखा। वहाँ महेन्द्र थे, यहाँ छाया थी।

महेन्द्र अपने हाथों में सिर झुकाकर कहते हैं, 'जया, कुछ और याद रख सकने के लिए मैं यह सब कैसे भूल सकूँगा?'

जया रोती है।

'अवि, बस एक बार यह कहो—एक बार अवि, तुम्हारे बिना मैं कैसे रह सकूँगी!'—छाया आँचल के सहारे सिसकती है।

प्यार के पल लिपटकर छूटते हैं।

स्वीकृतियाँ, उलाहने, कृतज्ञता...विदाई में कहीं दूर खिसकते हैं।

जया है और छाया है। अविनाश और महेन्द्र...

"जो तुम्हें मानना नहीं था, वह मैं कैसे कह पाया माँ—यह सोचता हूँ, पर छाया के लिए तुम कड़ी बनी रहीं, यह कैसे हो सका, यह क्यों हो सका...?"

अब क्या माँ नहीं हिलेगी!

जया बेटे को देखती है। इस बार आँखों में ऐसा अधिकार नहीं। पर माँ का प्यार कैसे छूटेगा उससे?

"बेटा, कुछ देर को भूल जाओ कि मैंने मना किया, लेकिन अब भी क्या इधर लौट आने का मन है...?"

यह कैसा स्वर है! पहलेवाला ठण्डापन नहीं। कहीं माँ के लिए बँधे हुए, गठे हुए शब्द। अविनाश झिझकता है। इसलिए नहीं कि माँ से क्या कहे, पर इसलिए कि कैसे कहे।

"कहो अविनाश—यह आज्ञा है या अनुरोध!"

"माँ, कैसे कहूँगा तुमसे माँ, मन वहाँ से कभी छूटा ही नहीं तो लौटने की बात क्या होगी...!"

"अविनाश···" माँ अपना हाथ खींचती है—"जो कह रहे हो उसे अपने में जानते हो, समझते हो ?"

"जानता हूँ माँ !"

अविनाश का स्वर संयत है। संयम में मोह की उमड़न है। अविनाश एक बार फिर दुहराता है—"जानता हूँ माँ"

माँ जया नहीं, माँ बनकर लौटती है—"नहीं अविनाश, तुम नहीं जानोगे। कोई कहने-भर से जान लेता तो··· ।"

जान लेता···

जया ठिठक जाती है, यह तो वह नहीं जो वह कहना चाहती है। कोई कहने-भर से जान लेता—यह किसे कह रही है ? बेटे को, या अपने को ···? कहने-भर से जाना नहीं जा सकता तो जानने के लिए वर्षों की लम्बी अवधि भी क्या कम नहीं होती ?

भूल गयी, सो गयी स्मृतियाँ उसकी अपनी आँखों में छलछला आयेंगी—यह वह भी कब जानती थी ···!

अविनाश माँ को देखता है, चेहरे पर रुखाई है। भीतर जो टूट रहा है उसे रुखाई कहने नहीं देती।

"बेटा, छाया से तुम्हें मोह है, मैं जानती हूँ, पर छाया इस परिवार में आयेगी तो उतनी ही नहीं, जितनी तुम्हारे निकट है। छाया के साथ उसका परिवार, परिवार का अच्छा-बुरा सब आयेगा अवि !"

माँ कहाँ संकेत करती हैं, अविनाश समझता है, पर अब भी उदासीनता को माँ के ठण्डे बोल काट देते हैं।

"माँ, अच्छा और बुरा कहाँ नहीं, तुम्हीं कहो"।

इस बार जया कुछ करती नहीं, अँधियारे में देखती-भर है। सिर पर भटके हुए पंख फड़फड़ाते हैं।

"माँ, छाया को एक बार तुम देखो तो।"

देखा है, कई बार देखा है—जया बेटे को रुखाई से कहना चाहती है, पर फिर भी क्या कह पायी ! दो लम्बे निःश्वास। साँझ आकाश से उतरकर नीचे बिछली चली जा रही है। लाल पत्थर का रंग नहीं दीखता। और घास पर दो माँ-बेटे—यत्न से रखी गुलाब की क्यारी में हवा की निर्दयता से पंखुरियाँ बिखरती हैं।

"माँ !"

माँ बोली नहीं।

"चलो माँ !"—अविनाश बाँह बढ़ा माँ को सहेजता है। बजरी की सड़क पर जया के पाँव की आहट अविनाश को आहट नहीं, रगड़-सी लगती है। आज ऐसी उदास शाम में माँ के साथ इन रूखे खण्डहरों में यहाँ आने का प्रयोजन ही कहाँ था! तैयार होकर अविनाश जब कमरे से निकला तो घर के पिछवाड़े लान में माँ को चुपचाप मौन बैठे देख पिता की याद हो आयी। पास जाकर बोला, "माँ, चलो। आज कहीं घूमने चलें।"

माँ ने 'हाँ'-'ना' कुछ नहीं की। देखती-भर रही। अविनाश ने आदर से हाथ पकड़कर उठाया तो चल पड़ी। माँ-बेटे एक-दूसरे को समझते समझाते फिर दूर जा पड़े। बेटे के मन से कटुता नहीं जाती। छाया के लिए उसने माँ को कितना कहा, कितना समझाया, पर वह जमी रही। क्या है जो छाया में नहीं है, पर माँ कुलीनता को सबसे आगे रखती हैं। और कुलीनता में रखती हैं भरे-पूरे धनी परिवार को। कहाँ से लायेगी छाया ऐसा परिवार! एक बात और कि उसके 'पिताजी' उसके पिता नहीं चाचा हैं। ऐसे अभाव को वह माँ के लिए पूरा कर सकेगी!

कार भाग रही है, माँ चुप है, बेटा चुप है। घर के फाटक पर जया आँचल समेटती है और रुकते-रुकते लौटती है—"अवि बेटा, चलो छाया के घर, आज उसे देखूँगी।"

अविनाश झिझकता है—"नहीं माँ, वहाँ···"

"घर पर कोई तो होगा!"

"शायद," अविनाश कार को मोड़ता हुआ कहता है, 'वह और उसके चाचा होंगे।" क्षण-भर बाद—"माँ, इन दो को छोड़ और कुटुम्ब-भर में कोई नहीं।" माँ की ओर देख बेटा जैसे उसे कह रहा है—समझ लो, बस इतना-भर ही परिवार है!

छोटी-सी काटेज के सामने गाड़ी रुकी। जया और अविनाश उतरे। बरामदे के सामने पिता के साथ छाया बैठी है।

"छाया, आज माँ आयी हैं!"

छाया अभिवादन करती है और हँसती हुई अविनाश से कहती है, "अवि, मेरे पिता कुछ ही दिन हुए भ्रमण से लौटे हैं।"

"नमस्कार—माँ, आओ बैठो।"

माँ आगे बढ़ती आती हैं, पास आकर ठिठकती हैं, फिर चौंकती हैं, नहीं-नहीं यह वह नहीं है—

"महेन···!"

"आम्रो जया ··"

महेन और जया ! छाया ने पिता का यह सम्बोधन कभी नहीं सुना। अविनाश ने माँ के नाम में इतनी मिठास कभी नहीं सुनी।

जया···

महेन···

आँखों में वह परिचय है जिसे अवि और छाया नहीं जानते, नहीं जानते। महेन्द्र आगे बढ़कर जया के दोनों हाथों को भरकर गहरे स्नेह से कहते हैं— "बैठो जया !"

'जया, मैं तुम्हें कैसे भूलूँगा ! कैसे भूलूँगा जया···' यही तो वह महेन है···

जया भीगकर महेन्द्र के हाथ का चुम्बन लेती है और वर्षों के बाद एक बार फिर उन्हीं बाँहों पर झुकती है। बीच की लम्बी अवधि जैसे छाया और अविनाश में बँधी खड़ी रह गयी है। जया का जी एक बार फिर छलकता है, गीले स्वर से कहती है, "महेन, आज मैं तुम्हारी बेटी को मिलने आयी थी ··"

महेन्द्र स्नेह से मुस्कराते हैं—'मेरी नहीं जया, छाया तुम्हारी बेटी है।"

जया प्यार से भर-भर आती आँखों से महेन्द्र का अधिकार उठाती है। उनमें अविनाश का चेहरा झिलमिलाता है। लगता है, अपनी बीत गयी जिन्दगी की एक यही प्रतिछाया तो वह पीछे छोड़ जायेगी। और उसके बिना जो कुछ भी उसमें है, वह डूब जायेगा जीवन की इस दोहरी साँझ में जिसके अँधियारे में सब रूप-रंग-आकार और अनुराग लय हो जाते हैं। लय हो जाती हैं नयी पुरानी मिली और बिछुड़ी स्मृतियाँ—यही वह दोहरी साँझ है।

सितम्बर, 1953

डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा

उस तूफानी-सी रात में जब ऊपर का आकाश नारों से गूँज रहा था, दो बाँहों ने किसी सुन्दर सुकुमार शरीर को थामकर आश्वासन दिया—"डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।"

बाँहें बाँहों से मिलीं और भय से सिकुड़ी हुई दो आँखें मुस्करा दीं। आँखों से आँखें मिलीं और पृथ्वी के आँचल पर शबनम चू पड़ी।

आकाश के मोती भू पर फूल बनकर खिल गये और एक दिन ' 'मारो-मारो, काटो,' 'अल्ला-हो-अकबर,' 'हर-हर महादेव'···बहार के गुलशन को रौंदते हुए वह हजारों कदम, खून में तैरती हुई वह आँखें और हथियारों को तौलते हुए वह हाथ··· !

उस बन्द मकान में, साँस रोके हुए दो प्राणी डोलते-डालते, डूबते-डूबते, जिन्दगी और मौत की कशमकश में।

'मारो-मारो' की आवाजें करीब आ रही हैं। और करीब, और करीब—हल्की-सी चीख निकली और दो मजबूत बाँहों ने उस मूर्छित-से शरीर को थामकर धीमे-से कहा, "डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।" सहसा द्वार पर हजारों की भीड़, किवाड़ टूट गये—'मार दो, जला दो'—और पलक झपकते हाथों से हाथ छूट गये। पुराने वायदे टूट गये। "मैं इसकी रक्षा करूँगा, मैं···" स्वर उखड़ गया। किसी ने गला दबाकर सिर दीवार के साथ दे पटका और सुकुमार बाँहें अपनी ओर खींच लीं।

सिर घूमा, आँखें घूमीं, जमीन घूमी, आसमान घूमा···और उस चक्कर में देखा— वह नन्हा-सा मीठा शरीर खूँख्वारों के हाथों में ! हाय—एक धार चमकी और सोने से भरी सुनहली बाँहें कटकर नीचे गिर पड़ीं।

"डरो मत मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा !"

एक सुनसान दुपहरी मे कैम्प के सामने कुछ लारियां आ खड़ी हुईं। बच्चे, बूढ़े घायल उतर रहे हैं। भूख से और प्यास से विकल। गिरते-पड़ते, लेकिन इस पिछली सीट पर·· ? एक निर्जीव युवक· पथरायी आँखें, सूखे बाल और नीले अधर·· ड्राइवर ने हमदर्दी के गीले स्वर मे उस बेजान शरीर को झकझोर-कर कहा, "उठो भाई, अपना वतन आ गया·· " वतन ! ओठ फड़फड़ाये—दो सोयी-सोयी भरी हुई बाँहें उठीं, ओठ फड़फड़ाये—"डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा " आवाज मौत की खामोशी मे खो गयी। पथरायी हुई आँखों की पलकें जड़-हो गयीं—वतन की यात्रा खत्म हो गयी। और रक्षा करनेवाली बाँहें हमेशा के लिए स्थिर हो गयीं। ड्राइवर ने सर्द हाथों से उठाकर बुझे हुए शरीर को जमीन पर लिटा दिया। मिट्टी मिट्टी से मिल गयी। लेकिन सुनो, मिट्टी से एक धीमी-सी आवाज उठ रही है।

डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। मैं ·

अक्तूबर, 1950

जिगरा की बात

दुपहर ढलने को आयी, कुएँ पर बैलों की जोड़ी बदल गयी। झाड़ियों पर पड़े सूखते कपड़ों से धूप की परछाई उतर गयी, अमरो ने हाथ का साफा निचोड़ा और छलकर नीचे फैला दिये। खेतों की हरियाली फागुन की हवाओं में डोल रही थी। कुएँ पर छाये पीपल के पात खड़खड़ाकर डालियों से टूट-टूट कर बिखरे चले जा रहे थे। अमरो ने लकड़ी की पाटी धोकर एक ओर रखी, सिर का कपड़ा जरा ऊँचा किया और पानी में हाथ डुबा मुंह पर छींटे दिये। कुएँ के ठण्डे ताजे पानी ने कूट-कूटकर धोये कपड़ों की थकान को ढीला कर दिया। बालों को गीला हाथ फेरा, छोर से मुंह पोंछा और उठकर सूखे कपड़ों की तह करने में लग गयी। गाढ़े की चद्दर, चारखाना तहबन्द, कमाल जुलाहे का बुना धारीदार खेस और सरदारे का लम्बा-चौड़ा कुरता। कुरते के सल निकालते अमरो मन-ही मन मुस्करायी। मालिक नजर सीधी रखे, दंगों-सी देह है। इलाके-भर में है कोई उसके बेटे जैसा! कभी साफ सुथरा साफा बांध, हाथ-भर का शमला छोड़ सरदारा गाँव में निकलता है तो दुश्मनों के दिलों पर बीत जाती है।

अमरो ने कपड़ों की तह की और सिर पर कपड़े धोनेवाली लकड़ी की पाटी रखे कच्ची राह पर हो गयी। आज उसका बेटा शहर गया है। कमाई कर आयेगा। गाँव में ही कब कमाई की कमी है! बाप-दादा के हाथों की जमीन-खेती है, पर लड़के को उनमें सब हो तब न? उसका तो आये दिन शहर आना-जाना लगा रहता है। लोग तरह-तरह की बातें करते हैं। कोई कहता है, 'अरे पला-पलाया जवान है। शोहदों के गुट्ट में होगा।' कोई इस पर यकीन नहीं करता और हँस-हँसकर कहता है, 'भाई, कौन जानता है किस अच्छी-बुरी जगह जाता

में पड़ा है। ऊपर आते-आते अमरो का हाथ रुक गया, और एकाएक लगा जैसे उन धन्धों की खबर उसे है। नहीं तो—नहीं तो सास के जमाने के गड़े चाँदी के गहने सोने में न बदल जाते! सोने के सामने चाँदी के सिक्कों की कीमत ही क्या है! पर 'उस 'पर' के बाद अमरो की आँखों के आगे काली रात घूम गयी—वह काली रात, जिसमें उसका सरदारा चुपचाप परछाईं की तरह ड्योढ़ी में आ खड़ा होता है। और वह मन-ही-मन बेटे की कार-कमाई के सदके जाती, उसकी थाली परस देती है।

मन की तार अटक गयी। अमरो ने हाथ की पूनी नीचे रख दी। लोगों का मुँह चाहे वह न पकड़े, पर उसकी आँखें तो बेटे की दबी-दबी चाल परख सकती हैं, उसके हाथ से बँधी-बँधाई पोटली लेते उसका भेद समझ सकती हैं।

शाम खेतों के पार उतर गयी। अँधियारे नीलेपन में अमरो का आँगन घिर गया। और किसी अनदेखी उदासी से मन। सरदारे के बापू की याद हो आयी। दस जनों से डरकर रहता था, गाँव-भर से सुलह-सफाई थी। ताप की बेसुधी में जाते-जाते भी कहा, 'अमरो, सबसे बनाकर ही रखना, जीता रहा तो लड़का तुम्हें सुख देगा।' '

और सचमुच लड़के ने सुख क्या नहीं दिया! कभी माँ की बात नहीं पलटी बच्चे ने ··

अमरो ने ऊपर की चद्दर अच्छी तरह ओढ़ी, एक लम्बी साँस ली और दीया जलाने के लिए बत्ती तेल में भिगोयी। बाहर ड्योढ़ी में किसी के पाँवों की आहट से चौंकी। मुड़कर देखा तो रोज की तरह चमन की घरवाली भागो आग लेने को खड़ी थी। "आओ बहन, देखती हूँ चूल्हे में कोई जलता उपला है या नहीं। आज तो लम्बी सोच में ऐसी बैठी ···'

भागो अमरो के साथ ही आँगनवाले चूल्हे पर झुकी और धीमे स्वर से मुँह ही-मुँह में बोली, "अमरो, रब्ब की रब्ब ही जानता है, अभी-अभी लड़का जोड़ी कुएँ से खोलकर लाया है। कहता है, परली राह पर सिपाही सरदारे का नाम पूछता चला आ रहा है "

अमरो का जी धक् रह गया, हाथ से उपला राख में गिर पड़ा। पर झट-पट सँभलकर बोली, "बहना, उसे सिपाही क्यों पूछेगा? पूछता भी होगा तो कोई पटवारी से ऊँची-नीची बात कर दी होगी, और तो · "

भागो गम्भीरता से बीच में ही अमरो की बात काटकर धीरे-से बोली, "अमरो, मालिक जाने, बाकी सुनने में तो कुछ और ही आया है · "

अमरो ने तीखी निगाह से भागो की ओर देखा, जो उसके सुनने में आया

था वह उनकी आँखों में था। देखते ही जी जला और कड़े स्वर में बोली, "अरे जो तुम्हारे सुनने में आया है, उन अपने पास ही रखो। उन अभागों की नजरें जायें जो मेरे सरदारे को नजर लगायें।"

भागो कुछ कड़ी बात कहते-कहते रुकी। अमरो के मुँह कौन लगे! सुलह की आवाज में बोली, "बहना, मुँह जले मेरा जिसके मुँह से बात निकल जाती है, नहीं तो कौन लोग मुझे अपने हैं और लड़का पराया है! बेटे ने फिकर से कहा तो तुमसे कहन चली आयी।"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं भागो," अमरो टोकी पड़ी, "तुमसे क्या छिपाना! यही, लोगों की बात कहती थी। हीरे-से लड़के को अच्छी-बुरी तोहमत लगाते अभीदों को झिझक नहीं होती। मेरे कौन-से पाँच-सात हैं! ले-देकर यही एक कमाई है। कोई अवा-तवा कहता है तभी जी जलता है।"

भागो ने सूखे उपले पर जलता अंगारा रखा और चुपचाप ड्योढ़ी के बाहर हो गयी।

वहीं चूल्हे के पास पाटले पर बैठे-बैठे अमरो की आँख फड़की थी धड़का। भागो जो कह गयी है" अगर सच है तो" पर क्या इन बातों से वह डरेगी? उसका बेटा ही नहीं डरता तो···

बाहर सरदारे को ऊँची रूखी-सी आवाज पड़ी।

"अरे ओ " है कोई यहाँ सरदारा···?"

चिन्ता में डूबी अमरो को यह अनखी-सी लगी। झटपट उठकर दहलीज के पास आयी। सिपाही को देखते ही हाथ फैलाकर बोली, "अरे कुछ होश कर, मालिक उसकी उम्र बड़ी करे, अभी तो मेरा बेटा जीता-जागता है और तुम उसी के दरवाजे पर आकर पूछने लगे, है कोई यहाँ सरदारा · ?"

सिपाही को यह सुनने की उम्मीद न थी। तेवर चढ़ाकर बोला, "माई, सँभलकर बोल, देखती नहीं कहाँ से आया हूँ? वह लड़का कहाँ है?"

अमरो की आँखों में सबकुछ घूम गया, पर वह डरे क्यों? बिगड़कर बोली, "मुझ पर अपनी थानेदारी न झाड़! मैंने भी दुनिया देखी है। वह दूध पीता बच्चा नहीं जिसे झोली में छिपाकर रखूँगी।"

सिपाही करीमबख्श ने जलती निगाहों से अमरो को देखा। बुढ़िया कितनी भाग है! नहीं तो औरत की जात और मन्तरी के नाम से खौफ न खाय!

सिपाही ने अपनी वर्दी के जोर-जब्बर को अपने तेवरों पर चढ़ाकर पीठ मोड़ी और पटवारी के घर की ओर हो लिया।

अमरो कुछ क्षण खड़ी-खड़ी अँधेरे में घुलती सिपाही की वर्दी देखती रही।

मुक्कड़ पर नजर पहुँचते ही बेटे के लिए जी उछला। ओढ़नी से आँखें पोंछकर चूल्हे को तेज करने में लग गयी। लड़का थका-भूखा आयेगा। घी भरी कटोरी में दबकर डाली। धुआँ बराबर आँखों को गीला कर रहा है। और सिर पर अन्धी काली रात उतरी आ रही है। क्या आज ही रात अमरो ने उठकर थाली साफ की। घड़ा पकड़कर पासवाले कुएँ की ओर चली। रस्सी बाँधकर घड़ा नीचे बहाया। ऊपर खींचते-खींचते लगा जैसे बाँहों में जान नहीं रह गयी। क्या इतना ही जिगरा है उसका? अमरो अशक्त-सा हाथों से घड़ा खींच बाँहों में थाम घर की ओर मुड़ी, तो सरदारे की भारी आवाज सुनकर ठिठक गयी।

"माँ · "

एकाएक अमरो कुछ कह नहीं पायी।

"माँ ··"

अमरो इस बार सँभली—'वारी जाऊँ बच्चा, बड़ी देर कर दी—तुम्हारी राह तकते तकते मेरी तो आँखें पक गयी हैं।"

सरदारे को माँ के शब्दों में कोई नयापन नहीं लगा। यह कहना तो उसकी रोज की आदत है। माँ के साथ कदम बढ़ाकर कुछ हल्के-से बोला, "कुछ साग-रोटी बना रखी हो तो जल्दी दो, मुझे अभी वापस जाना है।"

अमरो कुछ कहने को हुई, फिर रुकी।

"माँ, मैं हाथ धोकर आया, तुम रोटी परोसो।"

अमरो ने थाली में साग-रोटी और घी दबकर रखा। सरदारे ने खाने में देर नहीं की। माँ सामने बैठी लड़के को देख रही है। वह आज जल्दी में है। 'बेटा, इतनी रात गये कहाँ जाना है?"—अमरो का स्वर भारी था। सुनकर सरदारे का हाथ रुक गया। एक बार भरपूर माँ की ओर देखा और नजर नीची कर ली। जो माँ की आँखों में था वह उसके दिल में है और जो सरदारे की आँखों में था उसे समझना अब अमरो के लिए बाकी नहीं रह गया था।

अमरो ने जी कड़ा किया, सरदारे ने पानी का कटोरा मुँह को लगाया।

"बच्चा आज ' "

सरदारे का हाथ अब घी-दबकर की कटोरी पर था।

अमरो ने फिर शुरू किया—'बच्चा, आज तुम्हें कोई पूछता आया था।'

"कौन?" सरदारे का स्वर सदा की तरह रोबीला था।

अमरो झिझकी, पर कब तक झिझकेगी! उपलों की राख को लकड़ी से कुरेदती-कुरेदती अस्फुट-से स्वर में बोली, 'थानेदार सिपाही पूछ रहा था।"

"माँ ··!!"

सरदारे का हाथ घी-शक्कर की कटोरी पर टिका रह गया। आँखें फटी की फटी। उपलों की राख में से बुझे-बुझे अंगारे चमकते रहे। सहसा सरदारे की भूखी देह तन गयी, हाथों का जोर आँखों पर छा गया और पैर जैसे तनाव से उखड़ उठे।

"चलो!" थानेदार की कड़कड़ाती आवाज।

अमरो जब तक पाटले से उठे सरदारे के हाथ हथकड़ी में थे।

सन्तरी करीम खाँ ने तिरछी आँखों से अमरो को देखा। मुस्कराने से बड़ी-बड़ी मूँछें हिलीं। देखते ही अमरो के तन-बदन में आग लग गयी। तिरस्कार से भरी बड़ी आवाज में बोली, 'अरे यह दाँत दिखाना अपनी माँ को, और हाँ थानेदार, क्या कसूर है? बताओ तो बच्चे को किस कसूर में पकड़े लिये जा रहे हो?"

सन्तरी ने ऐसे देखा जैसे किसी नाचीज को देख रहा हो और पक्के दाँतों से दो गालियाँ निकालकर अट्टहास करते हुए कहा, 'तुम्हें नहीं पता माई? माल तो डाके का देग तुम्हारी ही थाली में डलता होगा।"

अमरो का एक मन आया थानेदार की मिन्नत करे लड़के के लिए, पर जाने क्या सोचकर तड़पकर बोली, 'अरे गालियाँ देना अपनी कुछ लगती को। जिगरा है तो गोलियाँ मरता है! तुम्हें क्यों आग लगती है..."

थानेदार मुँह लाल हो गया। घूरकर आँखों-ही-आँखों में सन्तरी को हुक्म दिया।

'ऐ बीबी जबान सँभाल ले, नहीं तो हमसे बुरा कोई न होगा! अभी मैं देख इस तेरे लाडले को ले जाता हूँ हवालात।"

अमरो डटी रही। तनकर हाथ फैलाकर बोली, "अरे, शेर के पूत को डर काहे का? हिम्मत थी तो डाका मारता था, चोरी तो नहीं करता था..."

सन्तरी को सरदारे की हथकड़ी खींचते देख नरम होकर बोली, "जा बेटा, डरें तुम्हारे दुश्मन! तुमने क्या किसी की चोरी की है! तुमने [illegible] करके [illegible] है। उस मालिक की दरगाह में फैसला होगा, तो काल-कोठरी तुम्हें नहीं, इन पुलसियों को मिलेगी।"

सिपाही सरदारे को ठोकर लगाकर बोला, 'शैतान की खाला, इसे अन्दर भेजकर तुम्हारा नाम रखवाऊँगा!'

अब तक आसपास लोग इकट्ठे हो गये थे। अमरो हाथ हिला-हिलाकर ललकारा करने लगी—"अरे, मुँह धो डालो! नहीं हुए [illegible] अपनी माँ से! मैं सरदार की माँ हूँ सरदार की समझे?"

जवाब में सन्तरी ने पैर से सरदारे को दो चार ठोकरें मारीं, लेकिन इस

बार ठोकर से सरदारे के पाँव डगमगाये नहीं—पैरों को जमाकर खड़ा रहा। मुँह पर भी अब पहले की-सी कोई डाका-भय नहीं था। माँ की ओर देखा। अमरो को जैसे उस नजर ने पहाड़-सा हौसला दे दिया हो। आँखों से लाड बरसाती दर्पपूर्ण स्वर में बोली, "जाओ बेटा, शेरों को ऐसी धमकी क्या? हाथ बँधे हैं तो क्या।"

आसपास औरत-मर्दों की भीड़ अचम्भे से बारी-बारी सरदारे और अमरो की ओर देख रही थी। अमरो ने ऊँची आवाज में सबको सुना-सुनाकर हाथ हिलाते हुए कहा, "मेरा बच्चा मिट्टी का माधो नहीं जिन राहों से जाता है उन्हीं राहों से लौटा आयेगा। सदके जाऊँ अपने लाल पर!"

देखते-देखते गाँव के अँधियारे अँधेरे में थानेदार, सिपाही और सरदारे के ऊँचे-लम्बे वजूद विलीन हो गये। अमरो की आँखें जब गली के मोड़ पर से अपने आँगन को लौटीं, तो चूल्हे की राख बेजान-सी होकर ठण्डी पड़ गयी थी।

थाली देखकर मन भर आया, कटोरी में अब भी थोड़ा-सा घी शक्कर पड़ा था। जाने कब बेटे को अपने हाथ की रोटी खिलायेगी! छम छम अमरो की आँखें बरसने लगी और जब देर बाद हल्की होकर चारपाई पर लेटी तो आँखें पोंछते पोंछते सोचा—'क्यों उसने दिल छोटा किया! मालिक मेहर करे लाल पर, यह वक्त तो उसके सगुण मनाने का है। सही-सलामत घर आये बच्चा! कल ही उसके कपड़े-चीरे धुला रँगाकर रखूँगी।'

और दूसरे दिन धूप चढ़ते ही अमरो ने सरदारे के कपड़े धोकर छत पर फैला दिये। दूर-दूर से हवा में सूखता लाखी साफा नजर आ रहा था और नीचे आँगन में बैठे-बैठे अमरो मन-ही मन पास-पड़ोसनों के आने पर ठोक-पीटकर, जवाब देने की तैयारी में थी।

अगस्त, 1952

खम्माघणी, अन्नदाता !

सूरज हल्का पड़ा, दिन गहरा हुआ और शाम हो गयी। चट्टानों की लम्बी शृंखला के साथ-साथ बसी हुई प्राचीन राजधानी किसी मौन निस्तब्धता में डूब गयी। सैकड़ों वर्षों का इतिहास जैसे अँधियारे की मूर्च्छना में तैरता चला गया।

सामने पहाड़ पर खड़ा मजबूत किला और ऊँचे-ऊँचे महल भी जैसे अतीत में खो गये और उनका अस्तित्व आज जनमत के पतले-पतले डोरों में भून गया। विशाल राजद्वार पर खड़े प्रहरी किसी बीते युग की निशानी मात्र रह गये।

सदियों की सत्ता आज महाराज के बुझे-बुझे मुख पर खिंची विवशता की रेखाओं में बिखरकर रह गयी। बलिष्ठ भुजाएँ क्षण-भर के लिए तड़पकर स्थिर हो गयीं। सोने की मूठवाली तेज तलवारें बिना संघर्ष के खामोश हो गयीं।

महारानी की मनुहार भी जैसे आहत होकर शैय्या पर पड़ी है।

महाराज सोचते हैं 'आज की भयानक अँधेरी रात बीत जाये, बीतती चली जाये, चलती जाये ' विराम न आये।'

आज कुछ बदल रहा है, कुछ बिगड़ रहा है। और इस बदलने और बिगड़ने के क्रम में महाराज किसी उखड़े हुए ग्रह की तरह कहीं बीच में लटक रहे हैं।

किसी असह्य मजबूरी से महाराज के दाँत कटकटा उठे। आज तो सब कुछ बुझता-बुझता-सा लग रहा है। दूर-दूर से नजर आनेवाले ऊँचे बुर्ज पर लगी लाल बत्ती भी जैसे नजर नहीं आ रही। महाराज के लिए आज सारी-की-सारी नगरी किसी अन्धे अभिसार में लिपट गयी है।

महाराज सोचते हैं—'यह कैसी विडम्बना है ? राजा का राज्य क्या बस यों ही चला जायेगा ? सत्ता का अधिकार और अधिकार का प्रभुत्व सब-कुछ बदल जायेगा ? बिना किसी विरोध के, रक्तपात के ?'

महाराज सोचते हैं—'सुबह होगी, हम भी होंगे, पर हाय, हमारे देवकुल का देवत्व न होगा! यह कैसी विडम्बना है सचमुच! यह समाचार झूठ भी तो नहीं। सच ही तो है। हाँ, बिल्कुल सच! पर यह कैसा सच है? जैसे पैरों के नीचे से जमीन खिसकी जा रही हो। पहले कभी ऐसा नहीं हुआ। आज जैसे भूकम्प के झटके लग रहे हैं। हे भगवान, यह कैसा भूकम्प है? सबकुछ तो डोल रहा है! धरती डोल रही है। मन डोल रहा है। न्याय डोल रहा है। फिर कहा जाता है कि यह जनशक्ति का चमत्कार है। जनशक्ति पर ही तो टिका रहा है युग युग का न्याय! राजसत्ता अपनी थी—पर आज जनसत्ता!'

महाराज के मन के भीतर से कोई बोल उठता है—'जनसत्ता के सामने तुम खण्डहर मात्र ही तो हो! आज कहाँ है तुम्हारा वह अमरत्व? कहाँ है तुम्हारा वह दैवी अंश, जिसके बल पर तुम्हारे पूर्वज गद्दी पर आरूढ थ?'

महाराज को अजब झुँझलाहट होती है—'यह कौन है जो यों बोल सकता है? क्या कहा? मेरे शासन के पिछले तीस वर्ष किसी अर्थहीन जड़ता की तरह विलीन हो जायेंगे? मेरे अधिकार और अधिकार का अभिमान कल साँझ के सागर में हमेशा के लिए डूब जायेंगे। नहीं, यह कैसे हो सकता है? आखिर अभी तो हम जीवित हैं। अभी तो हमारी वंश परम्परा गर्व से सिर उठाये खड़ी है। नहीं-नहीं, अभी हमारे पुरखाओं की साधना में शक्ति का अन्त नहीं हुआ, ह्रास नहीं हुआ! पुरखाओं की शक्ति क्या यों ही मिटा करती है? यह शक्ति कोई पानी का बुलबुला नहीं, कि जिसके जी में आये इसे बस एक फूँक मारकर उड़ा दे!'

टन-टन-टन!

यह टन-टन महाराज भी सुनते हैं। ड्योढ़ी पर सैनिकों के बदलने का समय हो गया। हमेशा से यही तो होता आया है। आज भी आवश्यक था क्या? परम्परा की भी कुछ शक्ति है। टन टन टन! यह टन-टन तो जिस समय की पुकार है, उसे महाराज खूब समझते हैं।

प्रहरी ऊँचे स्वर में पुकारता है।

सोने का समय हो गया। एक साथ कई आवाजें हवा में गूँज जाती हैं—

खम्माघणी, अन्नदाता! खम्माघणी अन्नदाता! खम्माघणी—खम्मा घणी, खम्माघणी...'

महाराज कानों पर हाथ रख लेते हैं। जैसे यह सब सहन नहीं हो पा रहा। आज यह हो क्या गया? आज तो कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा। ठीक है कि इतिहास बदलता है। इतिहास तो वैसे बदलता ही आया है। पर यह भी

कैसा विचित्र परिवर्तन है कि राज की जड़ें तक हिल रही हैं ! आज समय के रथ के पहिये इतनी तेज़ी से चल रहे है, जैसे रात-की-रात में समय का रथ बहुत आगे निकल जाना चाहता हो। 'खम्माघणी ''खम्माघणी'' ' यह तो व्यंग्य है, हमारा उपहास है। आज कौन है अन्नदाता ?

आज का स्वामी कल स्वामी नहीं रहेगा। आज का धनी कल धनी नहीं रहेगा। रह जायेगा केवल एक अधिकारहीन व्यक्ति और उसका शक्तिहीन अस्तित्व, किसी धुंधली छाया म लिपटा हुआ।

'आज तक हम प्रजापति थे ' महाराज चौंककर सोचते हैं, 'तो क्या कल तक हम प्रजापति नहीं रहेंगे ? हमारी सत्ता प्रजा का हित था। हमारा अधिकार प्रजा का सुख था। पर कल यह सब क्या होने जा रहा है ? इसके विरुद्ध एक भी आवाज़ नहीं उठ रही। कोई भी नहीं, जो स्वामिभक्ति से कहता हो—ऐसा नहीं होगा। हमें अपनी रक्षा के लिए महाराज की आवश्यकता है—महाराज, जिन्हें युग-युग से देवत्व-शक्ति प्राप्त रही है।'

महाराज सोचते हैं—'यह बात नहीं कि हम आज पहले के समान गगन-चुम्बी जयकारों में अपना नाम नहीं सुनना चाहते। क्यों नहीं हमारे प्रजाजन उत्तेजित होकर कहते— हम प्रजापालक चाहते हैं ! हम यही 'धणी' चाहते हैं। जो हो ! भाग्य की विडम्बना आज यह सब कौन कहेगा ? और क्यों कहेगा ?'

महाराज चाहते हैं कि हाथ बढ़ाकर इस ज़ोर-जबरदस्ती को रोक दें। पर यह सब कैसे रोका जाये ? क्या सचमुच प्रजा और पालक के बीच लम्बी खाई पट गयी ? बीच में कितनी भूख, कितनी प्यास, कितनी तृष्णा, कितना उत्पीड़न, कितनी बेबसी ऊपर उभर आयी है ?

महाराज जैसे कोई स्वप्न देख रहे हों—यह कैसा स्वप्न है ? कुछ भी तो समझ में नहीं आता। महाराज की आंखों में यह कैसा विचित्र दृश्य घूम रहा है ? आज तो जैसे देश-देश की भूखी और नगी जनता इधर से ही उमड़ पड़ी है। नहीं, नहीं, इतने भूखे और नंगे लोग केवल हमारे राज्य के नहीं हो सकते !

महाराज मानो कांपते दिल से पूछना चाहते हैं—'यह लोग इधर क्यों आ रहे हैं ? अपने महाराज से यह लोग क्या कहना चाहते हैं ?' और फिर जैसे महाराज शान्त भाव से इन भूखे और नंगे लोगों को देखते हैं और सोचते हैं कि आज इनके सामने क्या घोषणा की जाये ? कैसे इनकी तसल्ली करायी जाये ? भूखे और नंगे लोगों का यह दृश्य मानो महाराज के मन को झिझोड़

रहा है। महाराज खड़े हो जाते हैं, फिर बैठ जाते हैं और सोचते हैं—'आज हमारी कल्पना को क्या हो गया ? हमें कैसे भयावह स्वप्न दिखायी देते हैं ?' जैसे यह जन-समूह महाराज की ओर ही बढ़ा आ रहा है। 'अरे, अरे ! यह कैसा जन-समूह है ? ये तो कोई क्रान्तिकारी मालूम होते हैं। कितना बुरा समय आ गया ! आज तो जनता को जो चाहे अपनी ओर मोड़ ले। जनता भी जैसे कोई उठाऊचूल्हा हो कि जिसने चाहा, उठाकर इसका मुँह अपनी ओर कर लिया। कहा यह भी जाता है कि सब कार्य जनता की शक्ति से चलाये जायेंगे। अरे, अरे ! जनता ! जनता तो एक अन्धी शक्ति है।'

महाराज के मन में जैसे कोई पुकारकर कहता है—'अब क्यों घबरा रहे हो ? अब क्यों काँप रहे हो ? अब देखें तुम्हारी वीरता। बस इतने में ही डर गये ? अरे महाराज, तलवार देखो, तलवार की धार देखो। यों बड़ी-बड़ी डींग हाँकनेवाले तो हजारों होंगे दुनिया में। पर केवल बातें बनाने से क्या होता है ? तुमने जनता की परवाह न की। तुम्हें हमेशा अपनी ही पड़ी रही। तुमने सदा अपना ही आराम देखा। तुमने कुएँ खुदवाये तो अपने लिए, बाग लगवाये तो अपने लिए। जब देखो अपने ही भोजन, अपने ही स्वाद की बात चलती रही। संगीत-उत्सव हो तो केवल इसलिए कि महाराज खुश हो जायें, कल नृत्य-सभा जमनी चाहिए तो इसलिए कि महाराज को नृत्य के प्रति विशेष आकर्षण है। जनता को इससे क्या मिल सकता था ? जनता की भूख इससे कैसे मिट सकती थी ? तुमने कभी जनता को आँख खोलकर न देखा। अब जनता से डरो। जनता आ रही है। जनता को कोई नहीं रोक सकता। जनता तो आयेगी ही, आकर रहेगी।'

महाराज सोचते हैं—'समय रहते हम सोते रहे। सचमुच हमने बहुत-सा बहुमूल्य समय यों ही खो दिया। समय रहते कुछ न कर पाये। जब समय था, हमारे हाथ में सत्ता थी, हम कुछ न कर पाये। आज राज्य के अन्तिम क्षणों में कोई गहरी वेदना हमारे हृदय को छू रही है।'

यह कैसी वेदना है ? अब तक शायद जनता में ही इसका निवास रहा। आज वेदना वहीं से सरककर इधर आ रही है। सरकती आ रही है और महाराज की उन आँखों में फैल रही है, जो हमेशा सौन्दर्य को परखा करती थीं। महाराज की आँखें तो वेदना का स्पर्श कर ही नहीं सकती थीं। महाराज की आँखों में तो उनके पुरखाओं की ज्योति ही चमक सकती है। महाराज किसी निराशा में डूब-डूबकर लेट जाते हैं। अब क्या करें ? अब कुछ नहीं हो सकता। हो सकता तो क्या वे इसी तरह थककर लेट जाते ? आज चिन्ता से घिरे हैं।

ग्रौर एक उनकी प्रजा है, जो निश्चिन्त होकर ग्रानेवाले कल का मधुर स्वप्न देख रही है। शायद वह नहीं जानती कि ग्राज की रात उनके प्रिय महाराज की चिर-पुरातन परम्परा की कल्पनाग्रों का ग्रन्त कर देगी।

महाराज के मन के किसी कोने से फिर वही ग्रावाज सुनायी देती है। महाराज भुंभलाते हैं। यह कौन चोर है जो मन में छुपा बैठा है? सामने ग्राकर क्यों बात नहीं करता? ˙˙˙पर यह बात, सुनी ग्रावाज, ग्रनसुनी भी तो नहीं की जा सकती। क्या कह रही है यह ग्रावाज? जरा हम भी सुनें। सुनने में क्या हर्ज है?

महाराज बड़े धैर्य से इस ग्रावाज को सुनना चाहते हैं—'क्या कहा कि ग्राज महाराज की ग्रावश्यकता नहीं रही? जरा ग्रौर ऊँचा कहो। क्या कहा कि ग्राज जनता की चेतना रात के प्रगाढ ग्रन्धकार में भी चमक रही है?˙˙˙नहीं-नहीं, ऐसा मत कहो। महाराज की तो सदा ग्रावश्यकता रहेगी। जनता भी ग्रपनी जगह रहे। हम मान लेते हैं। पर इसका यह ग्रर्थ कैसे हुग्रा कि महाराज बुरे हैं? महाराज तो कभी बुरे नहीं हो सकते। खेल देखो, यह नया खेल भी, हम कब रोकते हैं? पर याद रखना, महाराज की तो बहुत शीघ्र ग्रावश्यकता पड़ेगी। याद रहे, हम उस समय यह भी तो कह सकते हैं—ग्रब हमारे पास समय नहीं रहा, हम ग्रौर कामों में व्यस्त हैं! पर नहीं, हम ऐसा नहीं कहेंगे। हम ऐसा कहना कभी पसन्द नहीं करेंगे।'

रात खामोश है। ग्रन्धकार गहरा है। महाराज के निकट, बिल्कुल निकट, परिस्थितियों का दैत्य खड़ा है। वे विचलित हैं। ग्रब कोई दूसरी राह नहीं है। कल वहाँ होगा ग्राज के शासन-कर्ता का मत—उनका हुक्म!

महाराज के मन से जैसे फिर वही ग्रावाज सुनायी देने लगती है—'महाराज, ग्राप किस पुराने युग में साँस ले रहे हैं? ग्रब तो समय का रथ बहुत ग्रागे निकल ग्राया। ग्रब किसी एक ही ग्रादमी का राज्य नहीं टिक सकता। ग्रब तो जनमत है। जनमत का बल है। उसी बल पर जनमत ग्राज ग्रापके सामन्ती मत से सबल है। महाराज! जरा ग्रन्तर को कुरेदें ग्रौर समझ लें कि यही बल, यही शक्ति ग्रापकी सत्ता का ग्रधिकार थी, ग्राधार थी। इसके खिलाफ जाने से ग्राप क्योंकर खड़े हो सकते हैं?'

महाराज काँप उठते हैं। जी हाँ, ग्राज उनकी समूची परम्परा को सँभालने का कोई सम्बल नहीं रहा। उनके देवत्व को थामनेवाला ग्राज कोई देवत्व नहीं रहा। उनके ग्रधिकार को पालनेवाला ग्राज कोई ग्राधिपत्य नहीं रहा।

रात बीती ग्रौर सूर्य-ग्रभिवादन का बिगुल बज उठा।

कितनी शीघ्रता से यह रात बीत गयी ! महाराज किसी खोये हुए पथ से लौटते हैं। आँखें खोल देते हैं। आज ही का दिन है। हाय री भाग्य की निर्दयता ! पर नहीं, अब कोई भावुकता नहीं, कोई दुर्बलता नहीं—निर्णायक घड़ी आन पहुँची है।

महाराज शैया पर पड़े पड़े सोचते हैं कि शायद यह सब नहीं होगा। नहीं हो सकेगा। अपनी आँखों के सामने भला कोई एक चिरपुरातन परम्परा का गला घोंटे जाते कैसे देख सकता है ? बल्कि यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि हम स्वयं यह कार्य करें। जी हाँ, यह अपराध कैसे किया जा सकता है ? एक प्रकार से महाराज तय कर लेते हैं कि वे इतिहास के पहियों को यों मनमानी नहीं करने देंगे। यह तो अन्याय है कि जिधर सड़क नहीं है, उधर को ही हो लें ये पहिये ! आखिर रास्ता देखकर ही तो चलना चाहिए इतिहास को भी। होगा इतिहास का सारथी ! यह तो सारथी का कार्य नहीं कि एक अन्याय को मिटाने के लिए दूसरा अन्याय करे। अरे, अरे ! महाराज तो महाराज हैं। हाँ, हाँ महाराज तो महाराज हैं। महाराज ही !

शैय्या से उठकर महाराज महारानी से मिलते हैं। महाराज उदास नज़र आते हैं, पर शीघ्र ही उनकी उदासी पर एक बनावटी-सी खुशी उभरती है। वे महारानी का मन रखने के लिए कहते हैं, "महारानी, हम ऐसा नहीं होने देंगे। देवत्व का अन्त हम इतना शीघ्र नहीं होने देंगे।"

महारानी कहती हैं, "यह आप क्या कह रहे हैं, महाराज ! यही बात थी तो पहले से इनकार कर दिया होता। अब तो आपकी प्रतीक्षा हो रही होगी। आपको आज जनता के सामने खड़े होकर नयी सत्ता की घोषणा करनी होगी।"

"घोषणा !" महाराज विरोध के स्वर में कहते हैं, "आज हम घोषणा नहीं करेंगे। आज हम घोषणा नहीं होने देंगे···!"

जन-समारोह आरम्भ होने में देर नहीं। असीम भीड़ महाराज की प्रतीक्षा कर रही है। जैसे हर कोई पूछ रहा हो—महाराज अब तक क्यों नहीं आये ? सर्वप्रिय मन्त्री बार-बार मंच पर आते हैं और जनता से खामोशी से महाराज की प्रतीक्षा करने की प्रार्थना करते हैं।

अब तो मालूम होता है कि जन-समूह अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकता। मालूम होता है, आज सभा की कार्रवाई को काबू में रखना सहज नहीं।

सर्वप्रिय मन्त्री स्वयं महाराज को लाने जाते हैं। दूसरे मन्त्री सभा को काबू रखने की चेष्टा कर रहे हैं।

सर्वप्रिय मन्त्री आधे घण्टे के विलम्ब के पश्चात् महाराज को अपने साथ लाने में सफल हो जाते हैं। सभा में हर्षध्वनि गूँजती है।

सर्वप्रिय मन्त्री को साथ लिये महाराज नये विधान की नयी घोषणा करने के लिए मंच पर पधारते हैं। दूर-दूर तक भीड़-ही-भीड़ नज़र आती है।

इस असीम जन-समारोह को देखकर महाराज पहले ठिठकते हैं। जैसे वे पूछना चाहते हैं कि आखिर इस समारोह में लोग महाराज से चाहते क्या हैं।

महाराज का जय-जयकार हो उठता है। गौरव से महाराज का मस्तक चमकने लगता है अभी हमारी प्रजा को हमारा ध्यान है, हमारी खुशी का ध्यान है।

खत्म हो रही कहानी का हारा हुआ नायक भी थोड़ा खुश हो जाये, शायद यही सोचकर यह जन-समूह महाराज का जयघोष कर रहा है। अरे, अरे, यह अपार जन-समूह नये युग की आशा में उमड़ आया है—आज जनता महाराज को झुक-झुककर, नतमस्तक होकर हाथ बाँधे, 'खम्माघणी' करना भूल गयी।

महाराज नपी-तुली चाल में मंच की ओर बढ़ रहे हैं। जैसे कोई शक्ति जोर-जबरदस्ती से उन्हें मंच की ओर लिये जा रही हो। यह सब क्या बहुत ज़रूरी था? ये लोग क्या राज-काज चलाने की शक्ति रखते हैं? यदि यह सत्य है तो फिर महाराज को ही क्यों बीच में घसीटा जा रहा है?

"आज का दिन राज्य के इतिहास में सुनहरे अक्षरों में लिखा जायेगा," महाराज मंच से घोषणा करते हैं और जन-समारोह का हर्ष और उल्लास तालियों में गूँज उठता है।

महाराज की आवाज़ फिर उभरती है—"आज से जनता का राज्य आरम्भ होता है। आज हम महाराज के रूप में अन्तिम बार आप लोगों के सम्मुख खड़े हो रहे हैं। हमारी यही इच्छा रही कि जनता ही राज्यसत्ता को सँभाले। जब तक जनता ने चाहा कि महाराज उनकी सेवा करें, हम महाराज के रूप में करते रहे। आज यह सत्ता फिर से जनता को ही सौंपी जा रही है। जनता अब स्वयं सूरज बनकर चमकेगी। ऐसा हमारा विश्वास है" और हमारा विश्वास सच्चा है।"

जन-समारोह में तालियाँ गूँजती हैं और फिर एक-एक करके बीसियों वक्ता मंच पर आते हैं और जहाँ एक ओर महाराज को बधाई देते हैं वहाँ दूसरी ओर जनता को बधाई देते हैं।

यह सब खुशी से तो न किया जा सकता था। यह आशा करना कि कोई अपना राज्य मिटते देखकर खुश हो—यह तो एक बहुत बड़ी जबरदस्ती है।

सभा समाप्त हो चुकी।

महाराज हतप्रभ-से कदम उठाते वापस आ रहे हैं। इतनी अवज्ञा? इतनी अवज्ञा···? पर नहीं·· ऐसा तो न होगा, ऐसा तो नहीं हो सकता। महाराज तो महाराज हैं ··पर जनता इस नये युग में भी अपने महाराज को, अपने सर्वप्रिय महाराज को, सहज ही भूल तो न जायेगी !

यह सत्य है कि जनता खुशी से पागल हो रही है। नया विधान तो सदा जयकारों में फूट ही पड़ता है। किसी शुभ्र क्रान्ति के टूटे-टूटे तन-मन को नव-प्राण देने की शक्ति तो नये विधान में ही हो सकती है। यह सब महाराज ने कर दिया—अपनी प्रजा के लिए, अपनी प्रजा की खुशी के लिए, और अब क्या प्रजा अपने महाराज को भूल सकेगी ?

महाराज सोचते हैं—'इतिहास का नया युग इसे ही तो कहते हैं। स्वतन्त्रता का जन्म इसे ही तो कहते हैं। पर क्या प्रजा अपने महाराज को भूल जायेगी ?'

बिगुल बजता है। कुछ सेवक चल-चित्र के समान 'खम्माघणी' कहकर विस्मय से खड़े रह जाते हैं। महाराज वही हैं, पर कुछ बदल गया है। महाराज नहीं बदले, महाराज की परम्परा बदल गयी।

महाराज की बड़ी-बड़ी आँखें देख रही हैं।

किले के नीचे इकट्ठी विशाल जनता के माथे पर नया सूरज !

महाराज झुंझलाकर सोचते हैं—'आज हमारे कानों से ये कैसे धीमे-धीमे प्राणहीन स्वर टकरा रहे हैं—'खम्माघणी, अन्नदाता ! खम्माघणी···खम्मा-घणी···खम्माघणी अन्नदाता !'

मार्च, 1951

सिक्का बदल गया

खद्दर की चादर ओढ़े, हाथ मे माला लिये शाहनी जब दरिया के किनारे पहुँची तो पौ फट रही थी। दूर-दूर आसमान के परदे पर लालिमा फैलती जा रही थी। शाहनी न कपडे उतारकर एक ओर रक्खे और, 'श्री ''राम, श्री'''राम' करती पानी मे हो ली। अंजलि भरकर सूर्यदेवता को नमस्कार किया, अपनी उनींदी आँखो पर छींटे दिये और पानी से लिपट गयी !

चनाब का पानी आज भी पहले-सा सर्द था, लहरें लहरो को चूम रही थीं। वह दूर—सामने कश्मीर की पहाडियो से बर्फ पिघल रही थी। उछल-उछल आते पानी के भँवरो से टकराकर कगारे गिर रहे थे, लेकिन दूर-दूर तक बिछी रेत आज न जाने क्यो खामोश लगती थी ! शाहनी ने कपडे पहने, इधर-उधर देखा, कहीं किसी की परछाईं तक न थी। पर नीचे रेत मे अगणित पाँवों के निशान थे। वह कुछ सहम-सी उठी !

आज इस प्रभात की मीठी नीरवता में न जाने क्यों कुछ भयावना-सा लग रहा है। वह पिछले पचास वर्षों से यहाँ नहाती आ रही है। कितना लम्बा अरसा है ! शाहनी सोचती है, एक दिन इसी दरिया के किनारे वह दुलहिन बनकर उतरी थी। और आज ''शाहजी नहीं, उसका वह पढा-लिखा लडका नहीं, आज वह अकेली है, शाहजी की लम्बी-चौडी हवेली में अकेली है। पर नहीं— यह क्या सोच रही है वह सवेरे-सवेरे ! अभी भी दुनियादारी से मन नहीं फिरा उसका ! शाहनी ने लम्बी साँस ली और 'श्रीराम, श्रीराम' करती बाजरे के खेतो से होती घर की राह ली। कहीं-कहीं लिपे-पुते आँगनो पर से धुआँ उठ रहा था। टन-टन—बैलो की घण्टियाँ बज उठती हैं। फिर भी ''फिर,भी कुछ बँधा-बँधा-सा लग रहा है। 'जम्मीवाला' कुआँ भी आज नही चल रहा। ये शाहजी की ही

असामियाँ हैं। शाहनी ने नजर उठायी। यह मीलों फैले खेत अपने ही हैं। भरी-भरायी नयी फसल को देखकर शाहनी किसी अपनत्व के मोह में भीग गयी। यह सब शाहजी की बरकतें हैं। दूर-दूर गाँवों तक फैली हुई जमीनें, जमीनों में कुएँ—सब अपने हैं। साल में तीन फसल, जमीन तो सोना उगलती है। शाहनी कुएँ की ओर बढ़ी, आवाज दी, "शेरे, शेरे—हुसैना, हुसैना ।"

शेरा शाहनी का स्वर पहचानता है। वह न पहचानेगा ! अपनी माँ जैना के मरने के बाद वह शाहनी के पास ही पलकर बड़ा हुआ। उसने पास पड़ा गँडासा 'शटाले' के ढेर के नीचे सरका दिया। हाथ में हुक्का पकड़कर बोला, "ऐ हुसैना, हुसैना ···।" शाहनी की आवाज उसे कैसे हिला गयी है ! अभी तो वह सोच रहा था कि उस शाहनी की ऊँची हवेली की अँधेरी कोठरी में पड़ी सोने-चाँदी की सन्दूकचियाँ उठाकर—कि तभी 'शेरे, शेरे ' । शेरा गुस्से से भर उठा। किस पर निकाले अपना क्रोध ? शाहनी पर ! चीखकर बोला, 'ऐ मर गयी क्या ! रब्ब तुम्हे मौत दे ···"

हुसैना आटेवाली कनाली को एक ओर रख, जल्दी-जल्दी बाहर निकल आयी—"आती हूँ, आती हूँ—क्यों छा वेले तड़पता एँ ? '

अब तक शाहनी नजदीक पहुँच चुकी थी। शेरे की तेजी सुन चुकी थी। प्यार से बोली, "हुसैना, यह वक्त लड़ने का है ? वह पागल है तो तू ही जिगरा कर लिया कर !"

"जिगरा !" हुसैना ने मान भरे स्वर में कहा, 'शाहनी, लड़का आखिर लड़का ही है। कभी शेरे से भी पूछा है कि मुँह अँधेरे ही क्यों गालियाँ बरसायी हैं इसने ?" शाहनी ने लाड से हुसैना की पीठ पर हाथ फेरा, हँसकर बोली, "पगली, मुझे तो लड़के से बहू प्यारी है ! शेरे · "

"हाँ शाहनी !"

"मालूम होता है, रात को कुल्लूवाल के लोग आये हैं यहाँ ?" शाहनी ने गम्भीर स्वर में कहा।

शेरे ने जरा रुककर, घबराकर कहा, "नहीं—शाहनी ··" शेरे के उत्तर की अनसुनी कर शाहनी जरा चिन्तित स्वर से बोली, "जो कुछ भी हो रहा है, अच्छा नहीं। शेरे आज शाहजी होते तो शायद कुछ बीच बचाव करते। पर·· " शाहनी कहते-कहते रुक गयी। आज क्या हो रहा है ! शाहनी को लगा जैसे जी भर-भर आ रहा है। शाहजी को बिछुड़े कई साल बीत गये, पर—पर आज कुछ पिघल रहा है—शायद पिछली स्मृतियाँ आँसुओं को रोकने के प्रयत्न में उसने हुसैना की ओर देखा और हल्के-से हँस पड़ी। और शेरा सोच ही रहा

है, क्या कह रही है शाहनी आज ! आज शाहजी क्या, कोई भी कुछ नहीं कर सकता। यह होके रहेगा—क्यों न हो ? हमारे ही भाई-बन्दों से सूद ले-लेकर शाहजी सोने की बोरियाँ तोला करते थे। प्रतिहिंसा की आग शेरे की आँखों में उतर आयी। गँडासे की याद आ गयी। शाहनी की ओर देखा—नहीं-नहीं, शेरा इन पिछले दिनों में तीस चालीस कत्ल कर चुका था। पर·· पर वह ऐसा नीच नहीं सामने बैठी शाहनी नहीं, शाहनी के हाथ उसकी आँखों में तैर गये। वह सदियों की रातें—कभी-कभी शाहजी की डाँट खाके वह हवेली में पड़ा रहता था। और फिर लालटेन की रोशनी में देखता था, शाहनी के ममता-भरे हाथ दूध का कटोरा थामे हुए 'शेरे, शेरे, उठ, पी ले।' शेरे ने शाहनी के झुरियाँ पड़े मुँह की ओर देखा तो शाहनी धीरे-से मुस्करा रही थी। शेरा विचलित हो गया—'आखिर शाहनी ने क्या बिगाड़ा है हमारा ? शाहजी की बात शाहजी के साथ गयी, वह शाहनी को जरूर बचायेगा। लेकिन कल रातवाला मशवरा ! वह कैसे मान गया था फिरोज की बात ? सबकुछ ठीक हो जायेगा···सामान बाँट लिया जायेगा।'

"शाहनी चलो, तुम्हें घर तक छोड़ आऊँ।"

शाहनी उठ खड़ी हुई। किसी गहरे सोच में चलती हुई शाहनी के पीछे-पीछे मजबूत कदम उठाता शेरा चल रहा है। शंकित-सा इधर-उधर देखता जा रहा है। अपने साथियों की बातें उसके कानों में गूँज रही हैं। पर क्या होगा शाहनी को मारकर ?

"शाहनी।"

"हाँ शेरे।"

शेरा चाहता है कि सिर पर आनेवाले खतरे की बात कुछ तो शाहनी को बता दे, मगर वह कैसे कहे ?

"शाहनी ··"

शाहनी ने सिर ऊँचा किया। आसमान धुएँ से भर गया था : "शेरे···"

शेरा जानता है, यह आग है। जलालपुर में आज आग लगनी थी, लग गयी ! शाहनी कुछ न कह सकी। उसके नाते रिश्ते सब वहीं हैं।

हवेली आ गयी। शाहनी ने शून्य मन से ड्योढ़ी में कदम रखा। शेरा कब लौट गया, उसको कुछ पता नहीं। दुर्बल-सी देह और अकेली, बिना किसी सहारे के ! न जाने कब तक वहीं पड़ी रही शाहनी। दुपहर आयी और चली गयी। हवेली खुली पड़ी है। आज शाहनी नहीं उठ पा रही। जैसे उसका अधिकार आज स्वयं ही उससे छूट रहा है ! शाहजी के घर की मालकिन···लेकिन नहीं, आज

मोह नहीं हो रहा। मानो पत्थर हो गयी हो। पड़े-पड़े साँझ हो गयी, पर उठने की बात फिर भी नहीं सोच पा रही। अचानक रसूली की आवाज सुनकर चौंक उठी।

"शाहनी, शाहनी, सुना ट्रकें आती हैं लेने ?"

"ट्रकें · ?" शाहनी इसके सिवाय और कुछ न कह सकी। हाथों ने एक-दूसरे को थाम लिया। बात-की-बात में खबर गाँव भर में फैल गयी। लाह बीबी ने अपने विकृत कण्ठ से कहा, "शाहनी, आज तक कभी ऐसा न हुआ, न कभी सुना। गजब हो गया, अन्धेर पड़ गया।"

शाहनी मूर्तिवत् वहीं खड़ी रही। नवाब बीबी ने स्नेह-सनी उदासी से कहा, "शाहनी, हमने तो कभी न सोचा था।"

शाहनी क्या कहे कि उसी ने ऐसा सोचा था ! नीचे से पटवारी बेगू और जैलदार की बातचीत सुनायी दी। शाहनी समझी कि वक्त आन पहुँचा। मशीन की तरह नीचे उतरी, पर ड्योढ़ी न लाँघ सकी। किसी गहरी, बहुत गहरी आवाज में पूछा, "कौन ? कौन-कौन हैं वहाँ ?"

कौन नहीं है आज वहाँ ? सारा गाँव है, जो उसके इशारे पर नाचता था कभी। उसकी असामियाँ हैं जिन्हें उसने अपने नाते-रिश्तों से कभी कम नहीं समझा। लेकिन नहीं, आज उसका कोई नहीं, आज वह अकेली है ! यह भीड़-की-भीड़, उनमें कुल्लूवाल के जाट। वह क्या सुबह ही न समझ गयी थी !

बेगू पटवारी और मसीत के मुल्ला इस्माइल ने जाने क्या सोचा। शाहनी के निकट आ खड़े हुए। बेगू आज शाहनी की ओर देख नहीं पा रहा। धीरे-से जरा गला साफ करते हुए कहा, 'शाहनी, रब्ब को यही मंजूर था।'

शाहनी के कदम डोल गये। चक्कर आया और दीवार के साथ लग गयी। इसी दिन के लिए छोड़ गये थे शाहजी उसे ? बेजान-सी शाहनी की ओर देखकर बेगू सोच रहा है—क्या गुजर रही है शाहनी पर ! मगर क्या हो सकता है ! सिक्का बदल गया है···

शाहनी का घर से निकलना छोटी-सी बात नहीं। गाँव-का-गाँव खड़ा है हवेली के दरवाजे से लेकर उस दारे तक जिसे शाहजी ने अपने पुत्र की शादी में बनवा दिया था। गाँव के सब फैसले, सब मशविरे यहीं होते रहे हैं। इस बड़ी हवेली को लूट लेने की बात भी यहीं सोची गयी थी। यह नहीं कि शाहनी कुछ न जानती हो। वह जानकर भी अनजान बनी रही। उसने कभी बैर नहीं जाना। किसी का बुरा नहीं किया। लेकिन बूढ़ी शाहनी यह नहीं जानती कि सिक्का बदल गया है ·

देर हो रही थी। थानेदार दाऊद खाँ जरा अकड़कर आगे आया और ड्योढ़ी पर खड़ी जड़ निर्जीव छाया को देखकर ठिठक गया! वही शाहनी है जिसके शाहजी उसके लिए दरिया के किनारे खेमे लगवा दिया करते थे। यह तो वही शाहनी है जिसने उसकी मंगेतर को सोने के कनफूल दिये थे मुँहदिखाई में। अभी उसी दिन जब वह 'लीग' के सिलसिले में आया था तो उसने उद्दण्डता से कहा था, 'शाहनी, भागोवाल मसीत बनेगी, तीन सौ रुपया देना पड़ेगा।' शाहनी ने अपने उसी सरल स्वभाव से तीन-सौ रुपये आगे रख दिये थे। और आज ?

"शाहनी!" दाऊद खाँ ने आवाज दी। वह थानेदार है, नहीं तो उसका स्वर शायद आँखों में उतर आता।

शाहनी गुम-सुम, कुछ न बोल पायी।

"शाहनी!" ड्योढ़ी के निकट जाकर वह बोला, "देर हो रही है शाहनी। (धीरे-से) कुछ साथ रखना हो तो रख लो। कुछ साथ बाँध लिया है? सोना-चाँदी"

शाहनी अस्फुट स्वर से बोली, "सोना-चाँदी!" जरा ठहरकर सादगी से कहा, "सोना-चाँदी! बच्चा, वह सब तुम लोगों के लिए है। मेरा सोना तो एक-एक जमीन में बिछा है।"

दाऊद खाँ लज्जित-सा हो गया—"शाहनी, तुम अकेली हो, अपने पास कुछ होना जरूरी है। कुछ नकदी ही रख लो। वक्त का कुछ पता नहीं···"

"वक्त?" शाहनी अपनी गीली आँखों में हँस पड़ी—"दाऊद खाँ, इससे अच्छा वक्त देखने के लिए क्या मैं जिन्दा रहूँगी!" किसी गहरी वेदना और तिरस्कार से कह दिया शाहनी ने।

दाऊद खाँ निरुत्तर है। साहस कर बोला, "शाहनी,···कुछ नकदी जरूरी है।"

"नहीं बच्चा, मुझे इस घर से"—शाहनी का गला रुँध गया—"नकदी प्यारी नहीं। यहाँ की नकदी यहीं रहेगी।"

शेरा आन खड़ा हुआ पास। दूर खड़े-खड़े उसने दाऊद खाँ को शाहनी के पास देखा तो शक गुजरा कि हो-न-हो कुछ मार रहा है शाहनी से। "खाँ साहिब, देर हो रही है··"

शाहनी चौंक पड़ी। देर—मेरे घर में मुझे देर! आँसुओं की भँवर में न जाने कहाँ से विद्रोह उमड़ पड़ा। मैं पुरखों के इस बड़े घर की रानी और यह मेरे ही अन्न पर पले हुए···नहीं, यह सब कुछ नहीं। ठीक है—देर हो रही है।

देर हो रही है। शाहनी के कानों में जैसे यही गूँज रहा है—देर हो रही है—पर नहीं, शाहनी रो-रोकर नहीं, शान से निकलेगी इस पुरखों के घर से, मान से लाँघेगी यह देहरी, जिस पर एक दिन वह रानी बनकर आ खड़ी हुई थी। अपने लड़खड़ाते कदमों को सँभालकर शाहनी ने दुपट्टे से आँखें पोंछी और ड्योढ़ी से बाहर हो गयी। बड़ी-बूढ़ियाँ रो पड़ीं। उनके दुख-सुख की साथिन आज इस घर से निकल पड़ी है। किसकी तुलना हो सकती थी इसके साथ! खुदा ने सब कुछ दिया था, मगर—मगर दिन बदले, वक्त बदले

शाहनी ने दुपट्टे से सिर ढाँपकर अपनी धुँधली आँखों में से हवेली को अन्तिम बार देखा। शाहजी के मरने के बाद भी जिस कुल की अमानत को उसने सहेजकर रखा, आज वह उसे धोखा दे गयी। शाहनी ने दोनों हाथ जोड़ लिये—यही अन्तिम दर्शन था, यही अन्तिम प्रणाम था। शाहनी की आँखें फिर कभी इस ऊँची हवेली को न देख पायेंगी। प्यार ने जोर मारा—सोचा, एक बार घूम-फिरकर पूरा घर क्यों न देख आयी मैं? जी छोटा हो रहा है, पर जिनके सामने हमेशा बड़ी बनी रही है उनके सामने वह छोटी न होगी। इतना ही ठीक है। सब हो चुका है। सिर झुकाया। ड्योढ़ी के आगे कुलवधू की आँखों से निकलकर कुछ बूँदें चू पड़ीं। शाहनी चल दी—ऊँचा-सा भवन पीछे खड़ा रह गया। दाऊद खाँ, शेरा, पटवारी, जैलदार और छोटे-बड़े, बच्चे-बूढ़े, मर्द औरतें सब पीछे-पीछे।

ट्रकें अब तक भर चुकी थीं। शाहनी अपने को खींच रही थी। गाँववालों के गलों में जैसे धुआँ उठ रहा है। शेरे, खूनी शेरे का दिल टूट रहा है। दाऊद खाँ ने आगे बढ़कर ट्रक का दरवाजा खोला। शाहनी बढ़ी। इस्माइल ने आगे बढ़कर भारी आवाज से कहा, "शाहनी, कुछ कह जाओ। तुम्हारे मुँह से निकली आसीस झूठी नहीं हो सकती!" और अपने साफे से आँखों का पानी पोंछ लिया। शाहनी ने उठती हुई हिचकी को रोककर रुँधे रुँधे गले से कहा, "रब्ब तुम्हें सलामत रक्खे बच्चा, खुशियाँ बख्शे…।"

वह छोटा-सा जनसमूह रो दिया। जरा भी दिल में मैल नहीं शाहनी के। और हम—हम शाहनी को नहीं रख सके। शेरे ने बढ़कर शाहनी के पाँव छुए—"शाहनी, कोई कुछ नहीं कर सका, राज ही पलट गया" शाहनी ने काँपता हुआ हाथ शेरे के सिर पर रखा और रुक-रुककर कहा, 'तुम्हें भाग लगे चन्ना!" दाऊद खाँ ने हाथ का संकेत किया। कुछ बड़ी-बूढ़ियाँ शाहनी के गले लगीं और ट्रक चल पड़ी।

अन्न-जल उठ गया। वह हवेली, नयी बैठक, ऊँचा चौबारा, बड़ा 'पसार',

एक-एक करके घूम रहे हैं शाहनी की आँखों में ! कुछ पता नहीं, ट्रक चल रहा है या वह स्वयं चल रही है। आँखें बरस रही हैं। दाऊद खाँ विचलित होकर देख रहा है इस बूढ़ी शाहनी को। कहाँ जाएगी अब वह ?

"शाहनी, मन में मैल न लाना। कुछ कर सकते तो उठा न रखते। वक्त ही ऐसा है। राज पलट गया है, सिक्का बदल गया है..."

रात को शाहनी जब कैम्प में पहुँचकर जमीन पर पड़ी तो लेटे-लेटे आहत मन से सोचा—'राज पलट गया है · सिक्का क्या बदलेगा ? वह तो मैं वहीं छोड़ आयी।...'

और शाहजी की शाहनी की आँखें और भी गीली हो गयीं।

आसपास के हरे-हरे खेतों से घिरे गाँवों में रात खून बरसा रही थी।

शायद राज पलटा खा रहा था और—सिक्का बदल रहा था...

जुलाई, 1948

आज़ादी शम्मोजान की

तिरंगे की छाया में शुभ्रवसना नगरी मुस्करा उठी। दीपमालाओं मे अँधेरे-सीलन भरे आँगनों की सीमाएँ भी जगमगा उठीं। आज आज़ादी का त्यौहार था। कोटि-कोटि जन उल्लास मे झूमते हुए राजमार्ग पर बिखर गये। घर-बाहर सजे, बाज़ार सजे और सज गयीं रूप की वे दुकानें, जहाँ रूप रोज़-रोज़ इस्तेमाल होकर बासी और श्रीहीन हो जाता है।

शम्मोबीबी ने अपनी रूखी-सी कलाई पर पड़ी पीतल और काँच की चूड़ियों को झनकारकर किसी टूटे हुए अलसाये भाव से अँगड़ाई ली। सस्ती-सी रेशमी सलवार पर गहरे गुलाबी रंग की कमीज़ और कमीज़ में लिपटी हुई थकी-टूटी देह और देह के भार से अकड़ी हुई एक औरत की हड्डियाँ जैसे चरमरा उठीं। दरवाज़े पर लगी रंग-बिरंगी मोतियों की झालर कोठों पर से आती हुई फीकी हवा से ज़रा हिलकर मौन हो गयी। कोने में पड़ी मेज़ पर नीले-से फूलदान में कई दिनों के मुरझाये फूल सलवटों से भरी मैली शय्या को देखकर संकोच मे डूब गये। मगर शम्मोबीबी के लिए यह सब कुछ नया नहीं। संकोच में डूबे हुए फूलों पर उसकी नज़र नहीं जाती। उनसे कहीं अधिक वह स्वयं उस गर्त्त में डूबी है, जहाँ संकोच अर्थहीन हो जाता है। सालों पुराने इस पानदान में से पान लगाकर चबाते-चबाते उसे यह सोचने की ज़रूरत नहीं पड़ती कि पान का रस चूस लेने पर पीकदान में थूकने की आदत क्यों बेमतलब नहीं ?

और आज शम्मोबीबी जानती है कि आज़ादी का दिन है। जिन कोठों पर बैठकर वह राहगीरों को निमन्त्रण दिया करती है, उन्हीं पर आज तिरंगी झण्डियाँ लगायी जायेंगी। 'भूरे, भूरे' 'उसने आवाज़ लगायी। शम्मोजान की सीढ़ियों पर बैठा भूरा किसी नौजवान छोकरे को हाथ के इशारे से शम्मो के

शरीर की नाप बतलाते हुए ऊपर भी पहुंची और बोली, "हां, बाई, भाजभाण्डियां लगेंगी न ?

"रोशनी भी करनी है भूरे।"

"जरूर, बाई। लीलो, चम्पा, बन्नो सबके कोठे सज चुके हैं।" और भूरे ने अपनी सुरमा लगी तीखी आंखों से एक बार शम्मोजान को सिर से पांव तक देखकर उसके गले के नीचे लगे सोने के बटनों पर अपनी नजर टिका दी।

शम्मोजान ने उस टकटकी को समझते हुए भी उसे अनदेखा करके कहा, जरा जल्दी करना भूरे, फिर लोग आ जायेंगे।"

भूरे ने अनमने भाव से झण्डियाँ लगानी शुरू की। पतले-पतले पतंग के कागजों की-सी आवाज शम्मोजान अन्दर बैठी सुन रही है। उसके पोले पड़े दांत सुपारी चबाते जा रहे हैं। सामने-वाले कमरे से मुन्नीजान निकल आयी और बोली,—"कहो बहन, क्या हो रहा है, आज तो पूरा बाजार सजा है।"

"हाँ मुन्नी, आज तो शहर-भर में रोशनी है' "

बीच में ही बात काटते हुए मुन्नीजान ने अपने कर्कश और फटे-से स्वर में कहा, "लेकिन यह क्यों हो रहा है, क्यों हो रहा है ?" और यह सवाल करते हुए अपना महीन दुपट्टा मैले-से गावतकिये पर फेंक मुन्नीजान चारपाई पर लुढ़क गयी। उसके तलवों पर बदरंग-सी मेंहदी लगी थी।

शम्मोजान ने कहा, "आज आजादी का दिन है मुन्नी।"

"दिन नहीं, रात कहो, रात!"—मुन्नी ने ऐसे चीखकर कहा, मानो कहीं पड़ी हुई दरारों से फूटकर उसकी आवाज बाहर निकल आना चाहती हो। और वह अपने पपड़ी-जमे होंठों को फैलाकर हँस पड़ी।

शम्मोजान ने सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा, "मुन्नी, कहते हैं, आज लोगों को आजादी मिल रही है, जलूस निकल रहे हैं, जलसे हो रहे हैं।"

मुन्नी ने अपनी कसी और तंग कमीज में से जरा लम्बी सांस लेकर कहा, "क्या कहा, आजादी? लोगों को आज मिल रही है आजादी! आजादी तो हमारे पास है। हम-सा आजाद कौन होगा, शम्मोजान?" और हा-हा अट्टहास कर गुलाबी रंग से लिपी-पुती नारी-देह लट्ठे की मैली चादर पर ढेर गयी।

शम्मोजान कब तक वहां बैठी रही, मुन्नी को कोई खबर नहीं। बेखबर सोयी पड़ी मुन्नी के अंग-प्रत्यंग की थकान को शम्मो समझ रही है। अपने अन्दर ढँके परदों को उघाड़कर अगर वह भी देखे, तो एक टूटी आहत छाया उसकी उनींदी आंखों में झलक जायेगी। सालों बीते जब शम्मोजान लाज-शर्म

ोड़कर पहली बार इन दीवारों के अन्दर बैठकर मुस्करा दी थी कि अब वह
ाज़ाद है। जिस आज़ादी को अभी-अभी मुन्नी ने अपनी बेसुरी आवाज में याद
कया था, वह आज कितनी विकृत और कितनी कुरूप हो चुकी है, वह आज उस
ला नहीं।

रात काफी हो चुकी। बाहर रोशनी अधिक है, पर बाजार मन्दा है। ग्राहक
ड़ी-बड़ी इमारतों पर लगी रोशनी देखने में व्यस्त हैं। कितनी ही बाइयाँ
नरंगों से सजे अपने कोठों पर खड़ी-खड़ी उन बाँहों की प्रतीक्षा कर रही हैं, जो
धिक नहीं, तो आज की रात तो उन्हें बाँध सकें। वे जानती हैं कि यह रोज-
ोज का टूटना, जुड़ना और छूटना' वर्षों से बस एक ही क्रम! अगर किसी
दन उस पर विराम आ गया, तो शिथिल हो गये हाथ-पैरों में धीमे-धीमे बहता
क्त एकबारगी जम जायेगा।

शम्मोजान देखती है कि मुन्नी आज जिस आज़ादी की बात सोचकर गहरी
ींद में सो गयी है, उससे उठकर क्या वह फिर अपनी मलिन आँखों को
ज़रारा करेगी, क्या वह अपने बालों को मोतियों से सँवारकर छज्जे पर जा
ड़ी होगी? शम्मो को मुन्नी के लिए इसमें शक है, अपने लिए नहीं। वह
ो अभी जग रही है, सोयी नहीं है। वह जो कुछ है, अपने-आप से भूली हुई
हीं है। लेकिन भूलना क्या, उसे तो याद करने की जरूरत ही महसूस नहीं
ोती। यह ठीक है कि उसे अभी जिन्दगी काटनी है, अपने को बेचना नहीं,
रीदना है, ऐसे दामों में जिन्हें वह क्या, उसके कुल के वे सब देवी-देवता भी न
का पायेंगे, जिनके द्वार पर उसने नहीं, तो उसके पूर्वजों ने नाक रगड़कर
ह वरदान प्राप्त किया होगा। मगर वह सब-कुछ क्यों दुहराये?

मुन्नीजान को उसी बेहोशी में छोड़ शम्मोजान कोठे पर आ खड़ी हुई। उसी
मय भूरे ने अपने गलीज-से स्वर में कहा, "बाई, चलो, आज अच्छी चीज लाया
।"

एक लम्बी 'हूँ' के बाद क्षण-भर विराम लेकर शम्मो ने एक बार अटकी-सी
जर से आज़ादी के चिरागों को देखा, हवा में खड़खड़ाती उन झण्डियों को
खा और फिर अपने सधे-सधाये कदम उठाकर कमरे की ओर चल पड़ी।

बाहर झण्डे हवा में लहरा रहे थे, चिराग हल्के हल्के जल रहे थे, लोग
ाज़ादी से गले मिल रहे थे और अन्दर शम्मोजान अपनी पुरानी आज़ादी बाँट
ही थी, जो उसके पास शायद अभी भी बहुत थी बहुत थी।

ुलाई, 1951

कामदार भीखमलाल

कामदार भीखमलाल ने बालों पर गहरा हाथ फेरा, कोने में पड़ी लकड़ी की पेटी पर से उठाकर साफ़ा सिर पर रखा और दहलीज़ के पास पड़ी जूती पहनकर बाहर निकल आये। माथे पर कामदारी के तेवर थे। तेवरों के नीचे किन्हीं धुंधिया परदों में से झाँकती दो आँखें थीं और आँखों को रोबदार बनाता हुआ सिर से लिपटा बहुत बड़ा साफ़ा था। उनकी जूती की एड़ियाँ घिसी हुई थीं, लेकिन चाल में दम था। उनकी कमर कुछ झुकने लगी थी, लेकिन उन्हें इतना नहीं बल्कि चलते-चलते दायें-बायें और आगे देखने के अलावा पीछे न देख सकने का गम था। उनकी नज़र ही तो उनके कर्तव्य की धार थी। और उस धार के नीचे अच्छे-से-अच्छे कटकर रह गये थे! बड़े-से-बड़े अहलकार से लेकर छोटी-से-छोटी चाकरी को पल-भर में परख लेने की समझ-बूझ उनमें थी। अब तो ख़ैर वह बात नहीं रह गयी, लेकिन दरबारी राज के दिनों में बड़े-बड़े पहरों के रहते भी कामदार भीखमलाल महलों में से गुप्त-से-गुप्त बातों की टोह ले लिया करते थे। दरबार रात को महल के किस हिस्से में थे, कौन-से ज़नाने से उनका जी उचट गया है और कौन-सी दासी-बाँदी के पैरों में सोना डालने की बात सोची जा रही है! नयी पासवान की ओर से महाराज पर किस बात का दबाव डाला जा रहा है, कुँवर शिकार के बहाने किस खोज में जा रहे हैं! और न जाने क्या-क्या। और महलों की खोज-ख़बरों के साथ-साथ राज के हरएक महकमे के अन्दरूनी हालात, उन हालातों से उनके नाम और नामों से जुड़े चार पीढ़ियों तक के इतिहास, शहर में बनते-बिगड़ते, नये-पुराने नाते-रिश्ते और रिश्तों से उपजते नये झगड़े और शिकायतें—कुछ भी उनसे भूला नहीं था। उनकी परख कुछ ऐसी तेज़ थी कि

बहुत गहरे मे चीजो को कुरेद लाती थी। सुबह काम पर जाते-जाते उनकी आँखें कुछ-न-कुछ जाँचने मे जरूर सफल हो जाती। उनके सीढ़ियो से नीचे उतरते ही छत पर खडा उनका पड़ोसी जल्दी से पीछे क्यों हट गया है, इसी सोच में कामदार कुछ कदम उठाते और नुक्कड तक पहुँचते-पहुँचते मोदी की छत पर खडी उसकी सयानी लडकी की छाया देखकर बेफिक्री की एक लम्बी साँस लेते। तो बात यह है! पडोसी की ठीक डोलनी-सी हालत तो कितने दिनो से देख रहे थे। पानवाले की दुकान पर खडा सोनी का छोटा लडका—पानवाला कितने यत्न से पान लगा रहा है! और आन-की आन मे भीखमलाल देखते कि बिना पैसा दिये लडका घर की ओर भागा जा रहा है। और पानवाले की भग्न-सी दृष्टि दौडते हुए लडके का अनुसरण कर रही है। हूँ, तो अब आयी बात ऊपर! सोनी की विधवा बहू ''। राम, राम!

दो-चार अभिवादनो का उत्तर देते कामदार आगे बढ रहे हैं। चौंककर एक ओर हटते हैं—नयी डाक्टरनी की बग्घी दौडी आ रही है। डाक्टरनी की पतली महीन धोती—और ढीले बाल'''गढी की ओर से लौटती हुई गाडी कहाँ गयी होगी? सेठ के यहाँ? नही—सेठ की घरवाली आजकल मायके है। तो 'कल शाम कराशखाने के पास जाते हुए बडे डाक्टर का ध्यान आया। गढी के पास एक उन्ही की ही तो कोठी है! ओह ''तो अब आना-जाना शुरू हो गया है! डाक्टरनियो के यही लच्छन हुआ करते हैं। आती हैं, और धूल फाँककर चली जाती हैं!

कामदार अब तक कोतवाल के घर तक पहुँच गये थे। क्या मकान बनाया है! पर मकान के लिए इतना रुपया आया कहाँ से होगा? मन-ही-मन बहुत कुछ सोचा और आखिर नतीजे पर पहुँचे कि दरोगा की बतायी बात गलत नहीं हो सकती! छोटी बाईजी साहब के कुँवर की कृपा थी जो कोतवाल की बहिन पर हुई थी—नही तो इतनी बडी हवेली खडी कर लेना कोतवाल के बस का काम नहीं।

कामदारजी ने चाल जरा तेज कर दी। आज उन्हें बहुत-सा काम करना है। पिछले चार-पाँच साल के खरीदे हुए घारा का हिसाब उन्हें महल के खाते मे डालना है। अच्छा-भला सबकुछ चल रहा था, पर जाने अंग्रेजो के पाँव खोचते ही यह भुसमरे मकडी के जाले की तरह फैलते चले आ रहे हैं। सुना है हिसाब-किताब देखने कोई अहलकार आ रहा है। कामदार कुछ क्षण किसी गहरी चिन्ता मे डूबे रहे। फिर एकाएक आँखो के आगे से जैसे धुन्ध छँट गयी। जब उनकी बदली दो साल के लिए चुगी मे हो गयी थी तो यहाँ मजहर अली

काम करते रहे ''

अब कोई चिन्ता नहीं—कोई फिकर नहीं। कामदारजी जल्दी-जल्दी ड्योढी मे पहुँचे। लकडी के तख्त पर रखे डेस्क पर उनकी कलम-दवात पडी थी। पगडी उतार एक ओर रखी और घास का हिमाब बनाने मे जुट गये। हिमाब बना और ऐमा बना कि मुशी मजहर अली के नाम के माथ ही कामदार साहब के सिर से पूरा-का-पूरा बोझ उतर गया। उनके हिमाब में अब कोई गडबड न रह गयी थी। उल्टे साल भर का घाम हाथीखाने में वक्त पर मौजूद रहेगा। कुछ देर सुस्ता लेने के बाद कामदारजी ने कुछ जरूरी चिट्ठियो के जवाब लिखे और नम्बर चढ़ाकर अपने हुक्म में बडे लडके को दे दिये। सबकुछ समझा लेने के बाद यह हिदायत देना नहीं भूले कि आती बार नयी उमतानी के घर झाँक आना। उमके रग-ढग कुछ अच्छे मालूम नही देते। दो-चार बार वह उसे डाकखानेवाले बाबू के साथ बातें करते देख चुके हैं। बाबू के यहाँ घरवाली है, बच्चे हैं पर मन फिरते क्व देर लगती है! वह गुजराती बाबू—उसके यहाँ आते ही पानी भरनेवाली धवली बाई ने ऐसे डोरे डाले थे कि चार सालो में एक दिन भी बाबू की घरवाली मायके से नहीं आयी।

कामदार साहब कुछ ऊँघने लगे थे। हल्की-हल्की नींद की खुमारी में उन्हें कई भूले-भुलाये चेहरे दीख पडे। पिछले दरबार के दिनों मे घूरे की नाचने-गाने वाली लडकी—जिसको किस्मत ने टूटे-फूटे कच्चे मकानों से महलों में चढ़ा दिया—चुगी के दरोगा नियामत खाँ, जिनके घर के परदो से हर रोज नयी आँखें झाँकती थी और पुराने अस्पताल की दायी जगी, जिसके फन्दों से निकलने की ताकत अच्छे-अच्छो में न थी। कामदार खुद एक बार उसमें फँस चुके थे, पर भला हो उस घाघ-सी बुढिया का। जाने क्यो वह उस मामले मे ढीली पड गयी थी। कामदार भीखमलाल ने पल-भर के लिए आँखें खोली और मूँद ली। इस ड्योढी म काम करते उन्हें एक जमाना हो गया है! सिर पर से होकर कई राजे और उनके राज गुजर गये। बडे-बडे नगरसेठ, उनका कारोबार और मट्टा। जिन दिनो ननकू सेठ की चढती थी, उसके यहाँ के रग ही कुछ और थे! रुपया-पैसा, तीन ब्याहताएँ! कामदार सोते-सोते जग पडे। ओठों पर हल्की-सी मुस्कराहट फैल गयी। सेठ की बुढापे में ब्याही बहू ने जो लच्छन शुरू किये थे उनको सबसे पहले भाँपनेवाले भी भीखमलाल ही थे। लेकिन यह उनकी पहली खोज नहीं थी—ठाकुर के लडके ने किस तरह पोद्दार बनिये की लडकी को भगाने की सोची थी और ठीक वक्त पर कामदार साहिब ने इसकी टोह ले ली थी!

कामदार साहिब आज जब शाम को काम से फुरसत पाकर घर की ओर चले, तो आँखें हमेशा की तरह सजग थी। पोखर के किनारे गन्धी की लड़की घड़ा रखे बैठी है—पत्तेवाली छींट का लहँगा और फूलदार चोली "कामदार साहिब ने चाल को एक खास अन्दाज से हल्का किया, तेज किया और हाथ से साफे को अकारण ठीक करते हुए आगे बढ़ गये। पुरानी हवेली के पिछवाड़े से थाने की ओर मुड़ते ही हैडमास्टर का मँझला लड़का दिखायी दिया। कामदार हटकर एक ओर हो गये। दूर तक उसे देखते रहे। लड़का पोखर की ओर जा रहा था। कामदार मन-ही-मन हँसे। जिस हैडमास्टर के साथ उनकी बहुत देर से लगती थी, अब उसे भी समझेंगे।

चुंगी के दफ्तर पर नज़र मारते हुए वह गन्धी की दुकान पर जा बैठे। बहुत-सी कामकाज की बातों के बाद वह जाने के लिए उठे, तो क्रोध और विवशता से गन्धी के ओठ काँप रहे थे।

उस रात लड़की को गन्धी द्वारा मार पड़ने की खबर कामदार साहिब को वक्त पर पहुँच गयी और हैडमास्टर के यहाँ की कार्यवाही का हाल उनके विशेष संवाददाता द्वारा उन्हें सुबह होते ही पहुँच जायेगा। कामदार हमेशा की तरह आज भी सुख की नींद सोयेंगे। देवी की कृपा से उनकी एकमात्र लड़की अपने परिवार में निश्चिन्त है। सुखी है। और अच्छा नागरिक होने के नाते जो जिन्दगी-भर की जिम्मेदारियाँ उनकी हैं, उन्हें तो निभायेंगे ही। यह तो उनकी समझ-बूझ और अनुभव है जो हमेशा उनका साथ देते है, नहीं तो अब दुनियाँ में उनका कौन बैठा है! दोनों छोटे भाई व्यापार में खूब कमा-कमाकर गहना घड़वा रहे है। उन्होंने कभी बड़े भाई की कुशल-क्षेम पूछने की जरूरत नहीं समझी। पर इधर कुछ महीनों से कामदार साहिब स्वयं उनके यहाँ जाकर बच्चों को देख आते हैं। भाई-भौजाई समझने लगे हैं कि इस उम्र में उन्हें बच्चों का मोह होने लगा है जो शायद बुढ़ापे की निशानी है, पर कामदार साहिब मन में सोचते हैं कि कुछ महीने ठहर वह दोनों परिवारों को इस खानदानी घर में रहने के लिए कहेंगे और रुपये-पैसे में अपने साझे होने का प्रमाण देंगे। जब तक बाप-दादा की जायदाद का बँटवारा नहीं हुआ तब तक कारबार और उसका नफा-नुकसान इकट्ठा है।

कामदार साहिब ने आँखें बन्द कीं और सपनों के उजाले में हैडमास्टर साहिब का लड़का दिखायी दे गया। उसके बाल रूखे थे और आँखें खूँख्वार-सी उन्हें घूर रही थी। और उसके साथ गन्धी की लड़की नहीं, उनकी अपनी भौजाई खड़ी थी। कामदार साहिब को जैसे अनजानी सी घबराहट हुई और

और वहाँ से बचकर निकलना चाहते ही थे कि अचकचाकर देखा—जंगी ने उनके दोनों हाथ मुट्ठी में दबोच रखे थे और दूर से किसी के बिलखने की आवाज़ आ रही थी। कौन—मोदी की लड़की?···नहीं-नहीं, छाया धीरे-धीरे इधर सरकती चली आ रही थी और वह'' चाँदीवाले सेठ की बहू थी जिसे···जैसे किसी ने कामदार साहिब को किसी भयानक स्वप्न से झकझोरकर जगा दिया। सहमकर माथे पर हाथ फेरा—पसीने से बाल गीले थे, आँखें अँधेरे में उसी छाया को देखकर भय से सिकुड़ीं और एक हल्की चीख के बाद मुँद गयीं···

'कामदार साहिब'···'कामदार साहिब'···दरवाजे पर थाप पड़ रही है। सुबह की रोशनी में दरोगा मुबारक अली कामदार साहिब को उस लड़के का ब्यौरा सुनाने आन पहुँचे थे।

फरवरी, 1952

पहाड़ों के साये तले

भीमताल

सुधी ! 20-9-49

डाक-बँगले के वरामदे में खड़ी-खड़ी सोच रही हूँ कि इस क्षण मैं पाँव तले की धरती के सिवाय, और कहीं नहीं हूँ, कहीं भी नही। खड़ी हूँ, सामने चाँदनी मे तैरता ताल है। ताल पर मचलती लहरें हैं। लहरों मे लहरों की गलबहियाँ हैं। और मैं खड़ी हूँ। चारों ओर खड़े पहाड़ों पर सुनसान फैला है। सुनसान में खोये वृक्षों को चाँदनी चमकाती है, चमकाती है, पर जगाती नहीं। ताल से भीग-भीगकर हवा मेरा आँचल फहराती है, पर सहलाती नहीं। और मैं पहाड़ों पर बिछे अँधियारे मौन की तरह स्वयं मौन बनी खड़ी हूँ। कुछ देर पहले आकाश नीचे झुका था और साँझ हो गयी थी। मैं कमरे से उठकर बाहर आन खड़ी हुई। अँधियारे साये तले, ताल के बीचों-बीच उठती लहरें काँप-काँपकर रह जाती थीं। किनारे सिर डाले पड़े थे। और पश्चिम की दूरी इन दो आँखों में उतरकर रह गयी थी; लगा कि मेरी आँखें देखती हैं और नहीं भी देखतीं। पल-भर को सामने का ताल, ताल पर छाये पहाड़, पहाड़ों के आकार, सब मिट गये। सब पुँछ गये। अपनी आँखों मे बस मैं ही खड़ी रह गयी। आगे-पीछे, कहीं कुछ न था। न ताल था, न ताल की दिशाएँ थीं, न ताल की सीमाएँ थीं। मैं खड़ी थी और चाँदनी फैली थी। मन मे आया, न मैं कुछ हूँ और न चाँदनी। चाँदनी सब जगह होती है और कहीं नहीं होती, मैं कहीं नहीं हूँ और सब जगह हूँ। एक जगह ताल है और उसके किनारे हैं, किनारों से लगे पहाड़ों के सहारे हैं, पर चाँदनी कहाँ है ? कहाँ है आह, किसमे है ? वह सब पर छायी है, सब पर बिखरी है, सब पर फैली है; लेकिन वह किसी में नहीं। वह सबको चूमती

है, और सब इसकी छाया में अपने-अपने किनारों को चूमते हैं, अपनी बाँहों से लिपटी बाँहों को चूमते हैं। उस पल कहाँ होती है चाँदनी ? वह तो छन-छनकर सब पर एक साथ बरसती रहती है, एक साथ बरसती रहती है ! सुधी ! सोचती हूँ, मगर चाँदनी के उजाले से जी का अकेलापन भर जाता है, तो चाँदनी से छुते पड़े वे वीरान पहाड़ और जंगल सूनेपन में टकरा-टकराकर क्यों रह जाते हैं ? घने वृक्षों के झुण्ड-के-झुण्ड खड़े-खड़े हवा से हाहाकार कर, क्यों खड़खड़ाते हैं ?

बस दिन-भर पहाड़ी पगडण्डी पर चली। चढ़ाई से उतरी, तो उतरती चली गयी। उतराई पर पाँव भटके नहीं, ढलते चले गये। पहाड़ की सुहानी धूप और हवाएँ, लगा कि दोनों मुस्काती हैं और फिर जैसे रस में भीगकर, बिना चूमे ही एक-दूसरे को चूम जाती हैं। चलती गयी। पतली राह पर चलते पाँव उछल-उछल जाते, और राह के रोड़े पैर की ठोकर खाकर नीचे लुढ़कते जाते।

एक ओर हटकर, पहाड़ पर छोटी-सी पाठशाला है। आँगन में पुराना पेड़ खड़ा है। उसके नीचे बने चबूतरे पर स्लेट-पत्थर के टुकड़े बिखरे हैं। देखती हूँ और ठिठक जाती हूँ। मन होता है कि रुकूँ नहीं, भागती-भागती पहुँच जाऊँ गाँव के उस कच्चे मदरसे में, जहाँ स्लेट-पत्थर, दूध-पतली और घड़े के टूटे ठीकरे जीतने की होड़ लगती थी। कोट बिछाकर चबूतरे पर बैठी। स्कूल बन्द था। सामने देखा, मिट्टी के ढूह में कारी-कारी हाथ मुट्ठी भरते हैं, पास देते हैं और बन्द हो जाते हैं। मेरे हाथ मेरी झोली में हैं। मैं जीतती चली जा रही हूँ ढेर-सी दूध-पतली, ढेर-सी ठीकरियाँ, ढेर-सी। एकाएक गोमा मारता है। झोली खुली और ठीकरियाँ बिखर गयीं। यहीं इस पेड़ के नीचे—पर यहाँ नहीं, इस पेड़ के नीचे नहीं। यह वह मदरसा नहीं, चबूतरा वह नहीं, ये मेरे हाथ वे नहीं और मैं वह नहीं। वे नन्हे-नन्हे हाथों में पतली-पतली उँगलियाँ थीं, जिनमें से पत्थर की ठीकरियाँ पानी की तरह बह-बह जाती थीं। आज ये हाथ अपने में बँधे हैं; न दाम देते हैं, न बन्द होते हैं, न खुलते हैं।

उठी, कन्धों पर कोट डाला और चल पड़ी। स्कूल की टीन की छत पीछे छूट गयी। अगले मोड़ पर पहुँचकर बिछुड़ते पाँव न जाने क्यों पीछे लौट आये। जल्दी-जल्दी चढ़ाई चढ़ी, चबूतरे पर हाथ फैलाकर, एक ठीकरी उठा ली और उसे मुट्ठी में रखे नीचे भाग गयी। वह मदरसा, वह बचपन, वे हाथ—सब छूट गये थे, सब बीत गये थे। केवल हाथ में पड़ी ठीकरी वहीं थी। सुधी, चलते-चलते देर तक भारी मन से यह सोचती रही कि अतीत को कोई लौटा नहीं पाता। केवल मन के द्वार पर खड़ी स्मृतियाँ कभी-कभी उन्हें पुकारकर रह जाती हैं।

लकडी के ताल पर पहुँची, तो नल-दमयन्ती दीखने लगे थे। नीचे न उतरकर, ऊपर हो ली। क्षण-भर को भी लगा नहीं कि थकी हूँ। सात ताल का पहाड जैसे सरककर पैरों तले आ गया। बन्द पडी कोठियाँ और लकड़ी के फाटक। दूर उतर गयी। घने जगल से घिरी एक झील दीखने लगी थी। नीचे गहराई देखकर मन चचल नहीं हो आया। सँकरी राह से लगी पहाडो की गहराई देखकर जी सँभला और पाँव भी। सात तालों की खोज में जब नीचे पहुँची, तो साथ-साथ जुड़े तालो के साथ, यह तीसरा ताल भी था। किनारे जाती पगडण्डी से पूरी परिक्रमा कर डाली। ताल को बाँधते हुए बाँध पर घास उगी थी। ढीली होकर बैठी और फिर लेट गयी। सब मौन था। खामोश था। सिर को अपने हाथो से घेरकर लेटी हूँ। ममता भरी आँखो की तरह धूप सहज-सहज मुझ पर चमकती है, और ताल पर से ठण्डी होकर मुझे, मेरे मन-प्राण को छू जाती है। सुधी ! उस मीठेपन मे लगा कि ताल ने अपने ऊपर की गीली तह बदल ली है और मुझे साँस की गरमाई से ढाँप दिया है। मैं लेटी हूँ और कुछ सोचती नहीं हूँ। बस, आँखें मूँदे पडी हूँ। ये पहाड, पेड, शाखाएँ, झील, बाँध, और बाँध के किनारे—सब हैं, और उन सबमें कोई दूसरी नहीं हूँ। एकाएक लगा, मुझसे जुडी ये बाँहें, पाँव—सब झर गये हैं, फूल हो गये हैं। केवल धरती पर पडा मेरा मस्तक आकाश की ओर उठा है और तृप्ति में डूबी आँखें अपलक ऊपर देखती चली जा रही हैं।

वे कुछ क्षण कैसे थे ! बार-बार चाहती हूँ, पर लौटा नहीं पाती हूँ। नहीं लौटा पाती हूँ वे क्षण, वे मीठे पल, जो मन मे गहरे उतर गये थे और उसकी हरएक तह को रस से तन्मय किये जा रहे थे, विभोर किये जा रहे थे।

सुधी ! वहाँ से लौटी, तो मन फीका था। आँखें फीकी थीं। उनमें रानीखेत की माल का कोई रंग नहीं था, कोई चित्र नहीं था। एक हल्की-सी रुचिहीन जयकार कानो को खटखटा जाती थी। पर कपडे बदलने-बदलते मन बदल गया। अपने को अपने सामने देखकर अनमनापन दूर हो गया। शाल ओढते-ओढते आँचल ठीक किया और मुस्करा पडी। गुनगुनाते हुए सामने की खिडकियाँ खोलीं। परदे खींचे, तो दूर-दूर तक रानीखेत के पैरो तले बिछे पहाडों को बिखरे पड़ा देख, स्वर जैसे ठिठककर रह गया। ऐसे अँधेरे मे बिना देखे, हवाएँ बेरहमी से पेडो को झकझोर जाती होगी। हिला-हिला जाती होगी उन छोटी-छोटी टीन की पहाडी छतों को, जहाँ घण्टों प्रतीक्षा करने के बाद वे छोटे छोटे बच्चे अब तक लौट गये होंगे। अब तक लौट गये होंगे वे बच्चे।

रात को सोयी, तो फिर वही नन्ही-नन्ही आकृतियाँ आसपास घूमती रहीं।

पहाड़ की पतली-पतली पगडण्डियों पर पेड़ों की जगह ढेर-से बच्चे उग आये थे। सूखी टहनियों की तरह फैली उनकी बाँहें पुकार-पुकारकर कहती थीं, 'हमें कोई ओट दो, हमें कोई ओट दो।'

रानीखेत
24-9-53

सुधी !

बत्ती की हलकी लौ में तुम्हें लिख रही हूँ। रात हुए बहुत देर हो गयी। घड़ी की ओर देखती हूँ और सोचती हूँ कि आज यह थम क्यों नहीं जाती। क्यों थम नहीं जाती? कमरों में धीमी रोशनी है और भारी पुराना फ़र्नीचर जिन्हीं बीते चचल क्षणों की तरह उदास पड़ा है। बाहर अँधेरा है और सितारे हैं। चीड़ के पेड़ों पर लहराती हवा सरसराती है। खिड़कियों के भारी परदे पूरी तरह हिलते नहीं, पल-पल सिहरकर रह जाते हैं। होटल में बिल्कुल खामोशी है। कहीं कोई बोल नहीं, आवाज़ नहीं।

कुछ देर पहले कॉफ़ी पी थी। देर तक चीनी और क्रीम को चम्मच से हिलाती रही। घूंट जब अन्दर लिया, तो लगा कि आज तक कॉफ़ी इतनी अच्छी कभी नहीं लगी। पैरों पर शाल फैला लिया, सोफ़े पर अधलेटी पड़ी रही। रीते प्याले देखकर न जाने-क्यों, रेस्तराँ में बैठी वृद्धा का चेहरा आँखों में घूम गया—बड़े-बड़े गुलाबी फूलोंवाला पुराना फ्रॉक, घिसे हुए ऊँची एड़ी के जूते, सफ़ेद बालों में बँधा नीले रंग का स्कार्फ़ और झुर्रियाँ पड़ा पका चेहरा। सुधी ! उस दिन सुबह-सुबह मुझे देह में चमकती, तरसती दो पुतलियाँ देखकर मैं देखती ही रह गयी थी। रुक-रुककर हिलतीं वे सिकुड़ी बाँहें ! उँगलियाँ आगे की ओर प्याला खींच रही थीं, पेस्ट्री का टुकड़ा मुँह तक आकर रुक जाता था, झुके कन्धे और झुकते और लम्बी साँस जैसे कॉफ़ी का प्याला उठाने से पहले ही कॉफ़ी की कड़वी, मगर भनी सुगन्ध को अन्दर खींच लेना चाहती थी। सामने की मेज़ पर बैठे-बैठे कितना देख सकी और कितना नहीं देख सकी, यह मैं नहीं जानती। ऐसा लगा था कि गले में कुछ अटककर आँखों को धुँधला गया है। जल्दी-जल्दी नाश्ता करके बाहर जाने को उठी, तो खुलेपन में उन गुलाबी फूलों के पीलेपन को देख नहीं पायी। पास से होकर निकलते-निकलते कॉफ़ी के कड़ए-तीखे घूंट के साथ मिली बुढ़ापे की विरस गन्ध मुझे कँपा गयी। सुधी ! उस दिन के बाद कॉफ़ी और क्रीम के साथ, उस मिटती-मिटती सूखती देह को मैं कभी भी भूल

नहीं पायी हूँ। वे दो अतृप्त पुरानी आँखें, जो अब कॉफ़ी के प्याले में कोई रस-रंग-रूप नहीं देखतीं, केवल शून्य में भटकती हैं और मैं तरसकर कॉफ़ी के प्याले को ओठों से लगा लेती हूँ।

सुमी! उस दिन दुपहर में यहाँ पहुँची। सीढ़ियाँ चढ़कर बरामदे में से होती हुई, जब इस कोने के कमरे के सामने पहुँची, तो चौकीदार ने तनिक-सा झुककर दाहिने को परदा उठाया—"हुज़ूर! यह आपके लिए ..."

मैंने अन्दर पाँव रखा, कुछ देखा नहीं, सोचा नहीं, सोफ़े पर पड़ी कुशन सिर के नीचे रखी और बैठ गयी। जो जैसा था, वैसा था। न कुछ परिचित लगा, न अपरिचित, न जाना, न अनजाना। कमरे मेरे लिए थे और मैं वहाँ पहुँच गयी थी। बैरा ने कब सामान लगवाया, कहाँ लगवाया, यह सब मैंने देखा नहीं। मैं तो बैठी रही यह सोचकर कि अपनी जगह पर पहुँच गयी हूँ, अपने घर में हूँ। ठीक से कह नहीं पा रही हूँ कि होटल के उन पराये-से कमरों में मैं किस गहरे लगाव को जान सकी थी उस दिन। बिना किसी से अधिकार लिये, बिना किसी को अधिकार दिये उन कमरों की स्वामिनी हो गयी थी।

भुवाली से रानीखेत बस में आयी थी। पहाड़ों से लगी चक्करदार सड़क भली लगती थी। आगे की सीट पर बैठी-बैठी मैं सेब खाती रही। गर्म पानी पर बस रुकी, तो उतरकर कुछ देर टहली। नीचे धार में बड़े-बड़े गोल पत्थर चमक रहे थे। उसी के साथ लगी धान की हरी-हरी क्यारियाँ थीं।

राह में पत्तों और पहाड़ी फूलों से स्वागत-द्वार सजाये जा रहे थे। सुना कि नेहरू आनेवाले हैं। एक ओर सड़क के किनारे बीस-तीस बच्चे बैठे थे। मैले-कुचैले गर्म कपड़ों में गोरे-गोरे रंगवाले, पहाड़ों से घिरी सड़क पर न जाने क्यों मुझे वे बेजान पुतलों की तरह लगे। आँखों में बचपन की चंचलता नहीं थी, बैठने के ढंग में पास खड़े अध्यापक का अनुशासन नहीं था, जड़ता थी। पहाड़ों के मौन आँचल में लगी रहनेवाली चलती-फिरती बेरंग परछाइयों का झुण्ड-का-झुण्ड जैसे धरती पर छा गया था। देखकर लगा कि कार के गुज़रते ही किसी के संकेत पर ये जय-जयकार करेंगे, कार की रफ़्तार में लिपटी एक मुस्कान बिखरते-बिखरते आगे बढ़ जायेगी। और फिर पहाड़ों पर शाम हो जायेगी, अँधेरा बढ़ जायेगा। गाय-बकरियों के झुण्ड की तरह अलग-अलग पगडण्डियों से ये बच्चे अपने-अपने घर की ओर लौट जायेंगे। मैली-कुचैली गुदड़ियों में कोई-कोई आँखें सपने देखेंगी कि कार बढ़ती चली जा रही है, हार्न बज रहा है, फूलों के ढेर-के-ढेर, आगे-पीछे फूल-ही-फूल हैं, फूलों की बरखा हो रही है और पहियों के आगे फूलों की तह बिछती चली जा रही है।

रानीखेत पहुँचकर शाम को तैयार हुई। माल पर पहुँची, तो हल्की-सी भीड़ थी। हल्की-सी भीड़ इसलिए कि भीड़ नहीं थी। कुछ पतले-पतले सुगन्ध-भरे साँवलों पर भारी गर्म कपड़े, कुछ प्यारे-प्यारे नन्हे बच्चे, अच्छी कट के कपड़े, अच्छी कट के बाल और अच्छी कट के ममी और डैडी। सोचा, रानीखेत में बिजली होती, तो यह ताज़े-रंगीन चेहरे और भी सुन्दर दिखते, और भी गुलाबी दिखते। अधिकारियों की तनी देह लिये बार बार-बार इधर से उधर गुज़र जाती। एक गौरवपूर्ण नागरिक नया सूट पहने और किश्तीनुमा टोपी लगाये, इस अन्दाज़ और अदा से रुक-रुककर कदम उठाता था, जैसे प्रतीक्षा में बँधे पाँव सड़क पर आँखें बनकर बिछे जा रहे हों और दूरबीन बनी दो रोबीली आँखें अदृश्य मोटर की रफ़्तार से पल-पल परिचित होकर राह की लम्बाई माप रही हों।

दूर कहीं से मोटर के मीठे हार्न की आवाज़ आयी। पहाड़ों से लगा रानी-खेत का पहाड़ ठिठककर रह गया। भीड़ चौकन्नी हो गयी और किश्तीनुमा टोपी स्वागत की उतावली में झुक आयी। नेहरू पहुँच गये। जय-जयकार हुआ। मैं देखती रह गयी कि राह के दोनों ओर बिखरी जनता कहाँ है। फोटोग्राफर और कैमरामैन की भीड़ देखकर एकाएक बोध हुआ कि अपार जनता ने शायद सूक्ष्म शरीर धारण कर लिया है, और उन न दिखनेवाले चेहरों को फोटोग्राफर अपने-अपने कैमरों में उतारते चले जा रहे हैं। वह सब कुछ, जो मेरी इन दो आँखों से परे है, कल असंख्य-असंख्य पत्रिकाओं के पृष्ठों पर उतर आयेगा। यही तो आज की कला है। सुन्दर भी और सच्ची भी!

कौसानी
29-9-53

सुपी!

कौसानी के आँगन से त्रिशूल की चोटी देख रही हूँ। दूर आकाश के नीले छोर पर लगी तीन बर्फ़ीली ऊँचाइयाँ चमकती हैं, फिर और चमकती हैं और विस्मय से फैली मेरी ये दो आँखें मुँदती हैं, खुलती हैं और झुक जाती हैं। झुक जाती हैं इसलिए कि त्रिशूल का मस्तक मेरे मस्तक से ऊँचा है। मुँद जाती हैं इसलिए कि त्रिशूल की चमक धूप में चमकते शीशे से अधिक तेज़ है। खुल जाती हैं इसलिए कि इतना शुभ्र, इतना विशाल, आज तक इन आँखों ने नहीं देखा। इतने खुले में, इतने ऊँचे में लहराती यह हवाएँ! मन होता है कि इनको चूम-चूम लूँ, रस में भीगकर इनके पर्तों पर बह-बह जाऊँ।

यहाँ भायी। चढ़ाई चढ़कर डाक-बँगले में पहुँची। एक बार खुली धूप को खुले में देखा, और बरामदे में बैठ गयी। चाय आने में देर नहीं लगी। अल्मोड़ा से कौसानी तक की थका देनेवाली राह जैसे मंजिल पर पहुँचकर पैरों तले बिछ गयी। और गर्म-गर्म चाय की प्याली ढीले थके तन को स्फूर्ति दे गयी।

उठी, तैयार हुई। उत्तर की ओर खड़े पहाड़ की ओर हो ली। ऊपर, ऊपर, और ऊपर; पर लगता नहीं कि ऊपर चढ़ी जा रही हूँ। पहाड़ जैसे अपनी ऊँचाई को फैलाकर कम कर देना चाहते हैं। मीलों चलती चली गयी। ऊँचे चीड़ के पेड़ों के झुण्ड-के-झुण्ड। जंगलात के नम्बरों के नीचे कहीं-कहीं पेड़ों की छाल उतारकर गोंद के लिए मिट्टी और टीन के छोटे मटके लगा रखे हैं। जल्दी-जल्दी उतावली से ऊपर बढ़ी जा रही हूँ। रानीखेत के गोल्फ़ग्राउण्ड-जैसा समतल पहाड़ आ गया है। चारों ओर देखा, कहीं कोई गाँव नहीं दीख पाया। सोचा, अब और ऊपर नहीं जाऊँगी। दक्षिण की ओर से नीचे उतरने लगी—और उतरती चली गयी। सूखे पत्तों पर पाँव फिसल-फिसल गये। एक ढलते पहाड़ के घेरे हुए पत्थर की दीवार नज़र आयी। उसी ओर मुड़ गयी। अब टीन की छत दीखने लगी थी। पानी की टकी फाँदकर अन्दर पहुँची, तो घर के भले स्वामी ने कुछ विस्मय से, कुछ प्रसन्नता से स्वागत किया और बरामदे में बिछे भूरे नमदे पर बैठकर कुछ देर आराम करने का अनुरोध किया। गुलाबी किनारेदार धोती में लिपटी मालकिन आग्रह से चाय ले आयी। सुघी ! आधा घण्टा वहाँ रुकी होऊँगी। उस स्नेह-भरे आतिथ्य ने सहज ही मन को मोह लिया। दो नन्हें सुन्दर बच्चों को थप-थपाकर जब जाने को उठी, तो चलते-चलते रुक गयी। जान गयी कि मैं ही नहीं जा रही हूँ, मेरे सग आज का दिन भी चला जा रहा है। यह तो फिर कभी वापस नहीं आयेगा, इसकी याद आयेगी और कभी मुझे और कभी पहाड़ों के अकेलेपन से लिपटे इस पहाड़ी परिवार को छू जायेगी।

"अभी कुछ दिन तो आप यहीं हैं न ? एक बार फिर आयेंगी न···"

मैंने अनुरोध को मान लेनेवाले स्वर में कहा, "आऊँगी बहिन···"

मन हुआ कि कहूँ, 'आऊँगी' के पहले जो शब्द मैं मन-ही-मन कह गयी हूँ वे ही सच हैं, यह नहीं। पर कहते नहीं बना।

रास्ता भटककर दुबारा उस भूले रास्ते को कोई ढूँढने नहीं जाता। हाथ के संकेत से पतली-सी पगडण्डी दिखाकर, घर के स्वामी ने विदा दे दी।

चलते-चलते हर कदम पर लगता कि राह अच्छी नहीं, गिरूँगी। सावधानी से, चौकन्नी होकर पाँव उठाती गयी। पाँव-भर टेकने की जगह और नीचे

काली गहराई। मोटर की सड़क पर पहुँची, तो पहाड़ी रात के साये नीचे उतर आये थे। दूर कहीं अँधियारे में, खुली आँखें पलकों की राह, दो बत्तियाँ हवा की सरसराहट में काँप-काँपकर चमकती थीं, धीमी होती थीं, फिर चमकती थीं। सड़क की तरह आगे-पीछे बिछे अकेलेपन ने घबराकर मैं खूब तेज चली। मन पर कोई भय नहीं था, अपने से शिकायत करते मन में कुछ ऐसा ही आया कि संगी-साथी विहीन मैं, इन काले पहाड़ों की ओर क्यों जा रही हूँ? क्यों भागी जा रही हूँ? अकारण... अकारण... तन की आँखों ने एकाएक पुकारकर मन की आँखों से कहा, 'बड़े मन की आँखो! तुम बहुत देख चुकीं, अब मूँद जाओ, अब हमें खुलने दो, अब हमें देखने दो, देखने की महिमा को और छूने की महिमा को।'

मन की गहरी आँखें बिना सोचे जवाब दे पायीं, और मील का पत्थर आन पहुँचा। घड़ी-भर को साँस लेने को रुकी कि हवा के पंखों पर चढ़कर आती हुई गाने की आवाज़ सुनकर, विस्मृत-सी जंगले के सहारे खड़ी रह गयी। पहाड़ की इस खामोश ऊँचाई पर किसी मस्ती फिल्म के दिल लगे गानों की बोलियाँ सूई की नोक पर बजते रिकार्ड पर घूम-घूम जाने लगीं। ऐसा लगा कि कोई रेल-पार की शहरी बस्ती यहाँ उठा लाया है।

चौराहे पर 'सामूहिक विकास-योजना' की जीप स्वयं एक योजना बनी खड़ी थी। इने-गिने दस पाँच जन उदासीन जिज्ञासा से एक ओर लगते हुए स्क्रीन को देख रहे थे। जेनरेटर चालू हुआ और टेस्ट के लिए विदेशी स्वास्थ्य-चित्र छायापट पर उतरने लगा।

मैं एक ओर खड़ी-खड़ी देखती रही। लोग बहुत कम थे। गाँव के बड़े-बूढ़ों से सहायता लेने का प्रस्ताव हुआ। अधिकारी महोदय बोले, "साहब, कितने ठण्डे लोग हैं! मीलों लम्बा सफ़र कर, हम इन्हें ज़िन्दगी की नयी राह—नयी रोशनी दिखाने आये हैं और यहाँ पचास-सौ की भीड़ नहीं जम पायी।"

अचानक बिजली का तार ठीक करते हुए एक सहकारी को इसका इलाज सूझ गया—"साहब, सत्तर हफ्ते चलनेवाली फ़िल्म के रिकार्ड छाँटता हूँ, आन-की आन में जनता कौसानी की इस चौराहे पर न बिछ गयी..." लाउडस्पीकर ऊँचा हुआ, बोल उठे और हल्की-फुल्की तर्ज़ की गूँज लोगों के दिल खटखटाने लगी। चौराहे पर सचमुच रौनक घिर आयी—बच्चे, बूढ़े, मर्द, औरतें। पर्दे पर तस्वीरें नाचने लगीं और चित्रों के विदेशीपन को समझाने के लिए देसी भाषा अर्थों के परदे खोलने लगी।

ऊपर पहुँची। सब ओर अँधेरा था। त्रिशूल की ओर आँखें फैलायीं।

पहाड़ की काली ऊँचाई के सिवाय कहीं कुछ न था। हवा बहे चली जा रही थी—साँय ' साँय' '। हाथ-पैर धोकर, लैम्प की धीमी रोशनी में खाना खाया। सोने लगी, तो अन्दर-बाहर फैले अँधियारे और अकेलेपन को देखकर भी सिरहानेवाली खिड़की बन्द करने को मन नहीं हुआ। थकी थी, पर नींद जल्दी नहीं आयी। कुछ ऐसा लगा कि मैं यहाँ हूँ और नहीं भी। सुधी ! कभी-कभी दिल्ली की हेली रोड पर से घर लौटते हुए भी बिल्कुल ऐसा ही लगा करता है। लम्बी अकेली सड़क, वृक्षों की कतारों में सूरज डूब गया, पंछी फड़फड़ाने लगे और लगे उड़ने। मैं चलते-चलते जान नहीं पायी कि मैं कहाँ हूँ। तारकोल की उस लम्बी सड़क पर हूँ, पुराने पेड़ों के साये तले हूँ, या नीचे उतर-उतर आती शाम की उदासी में हूँ। मन भारी होने लगा और आँखें ढलते सूरज को देखकर चुपके-से सुझा जातीं कि मैं एक जगह और भी हूँ— सामने, दूर पश्चिम में ढलते सूरज तले···

सुबह पौ फटते उठ गयी। खिड़की में पड़ा लैम्प अभी जल रहा था। बाहर आयी। सामने काले पहाड़ों की चोटियाँ अपना श्वेत आँचल फैलाये खड़ी थीं। आँखें नत हुईं, रात का परायापन सुबह के प्रकाश में घुल गया। लगा कि मैं जहाँ खड़ी हूँ, खड़ी हूँ, जो देखती हूँ, देखती हूँ। रात के रहस्य से लिपटी कल्पनाएँ अब बेचारे मन को घेर-घेरकर यह नहीं कह रहीं —'तुम हो, और तुम नहीं भी हो।' अब तो मैं हूँ और खड़ी हूँ। कौसानी के डाक-बँगले से मेरी ही आँखें त्रिशूल को देख रही हैं।

अगस्त, 1953

न गुल था, न चमन था

साँझ गये मिस जया माधुरी कान्फ्रेन्स से लौटी। मन मे कटुता को उभरने न देने-वाला फीकापन था, ऊँची एडियो पर सँभली चाल मे थका-थका-सा ढीलापन था, और चेहरे पर बार-बार अन्तर के उछलते गीलेपन को सँभालता-सा बँधा-बँधा सूखापन था! आँखों में साँझ की-सी मीठी-मीठी व्यथामयी उदासी थी और उस उदासी में क्षण-क्षण तैरती कई आँखो की मोहक हँसी थी। जया ने काटेज का फाटक खोला, सभी कमरों में रोशनी थी। उसकी खिड़की मे पड़ा लाल सुर्ख गुलाबो का गुलदस्ता बादलों मे लहराती हवाओ मे हल्के-हल्के झूल रहा था। मेज पर किताबों और फाइलों का ढेर, नीले रंग में छन-छनकर चमकता टेबल लैम्प। जया ने हाथ का पर्स रखा, एक लम्बी साँस लेकर गोरी-पतली उँगलियों से घुंघराले बालो को सहलाते-सहलाते पीछे किया, मीठे अन्दाज में पलकें झपकी और शिथिल भाव से बिस्तर पर लेट गयी। एकाकी, सुनसान, अपरिचित स्थान मे यह काटेज लताओ से घिरी दिन में भली लगती है, पर रात को जब वह आँखें मूँद लेती है तो नींद के अँधियारे में भी परदेश के-से परायेपन को अपने से छुटा नहीं पाती। सुबह-दुपहर-साँझ कान्फ्रेन्स, भाषण, प्रस्ताव, देशी-विदेशी चेहरे। और अपने हाथों द्वारा लिखे कुछ पन्ने जिनकी महत्ता उसके निकट कुछ नहीं—कुछ भी नहीं, पर प्रतिनिधि बनकर आने पर भाषणो की कुछ चुनी-चुनी पक्तियाँ उसे कर्तव्य की याद दिलाती रहती हैं।

टिक-टिक · घड़ी की सूइयाँ समय को मापती चली जा रही हैं। जया लेटे-लेटे बाँहें फैलाती है जैसे किसी को थाम लेना चाहती हो, आँखो मे नही बाँहों में। और वह प्रससनीय दृष्टि खिंची चली आ रही है, जिसे जया पहचानती है पर पहचानना नहीं चाहती। जया किसी मिठास मे भीगकर पल-भर के लिए

अपने ही हाथों से आँखें मूँद लेती है—और फिर बन्द आँखों में कल्पना का छलकता-सा रूप·· हल्के फुल्के सिल्क के कपड़ों में लिपटी जया—जया को अपने से, अपने नाम से मोह हो रहा है। कान्फ्रेंस से लौटते हुए मन पर छाये उस क्षणिक फीकेपन का परदा धीरे-धीरे उतरता जा रहा है,· पर यह क्या गुनगुनाहट जया ने चौंककर आँखें खोल दीं एक गहरी करुण आवाज़ ·· 'न गुल था, न चमन था '। जया ठगी-सी उठी, कन्धे पर झूलता आँचल सँभाला और सायवाले कमरे के द्वार पर जाकर ठिठक गयी। दरवाजा खुला था और सामने पलँग पर लेटी एक नारी-छाया—गहरे हरे रंग में लिपटी बालों पर क्लिप, कसे ब्लाउज पर चमकते गोल-गोल बटन,—गुनगुनाहट बन्द हो गयी। दो कजरारी तीखी आँखों ने गुलाबी ओठों पर हँसी फैलाते हुए जया की ओर मुस्कराकर देखा और तकिये पर सिर रखे-रखे ही कहा, "आइए बैठिए, मैं तो आज ही दुपहर की गाड़ी से आयी हूँ। सफर में इतना थक गयी थी कि कान्फ्रेंस में भी नहीं जा सकी। बैठिए न, आपकी तारीफ ?"

जया जैसे धक्का खाकर कुर्सी पर बैठ गयी। कुछ रूखे-से भिंचते-से गले से बोली, "मैं पूना से जया माधुरी हूँ और आप·· ?"

"ओह मैं—मैं हूँ नादिरा दस्तूर ·।"

जया ने सुना और देखती रह गयी। आँखों ने परखकर मन को समझाया—नादिरा दस्तूर। अधगोरी गर्दन में चमकते मोतियों का हार, उसके साथ-साथ बीत गये समय की तीन-चार रेखाएँ काले केशों में रुपहले रूखे तागों की चमक, अधमैले रंग की देह पर सफेद और गुलाबी पाउडर की तह—नादिरा दस्तूर ! बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखें 'और आँखों के पीछे जया कुछ सोच नहीं सकी—नादिरा दस्तूर ! यह नाम उसकी पलकों में, उसके कानों में, उसके मन में घूम रहा है, घूम रहा है,—नादिरा दस्तूर। और बिजली के प्रकाश में स्वच्छ शैय्या पर फैली नादिरा दस्तूर के भरे गठन के मध्य में से ऊपर उठी हुई लेस का फीता और उँगलियों में लाल नग की अँगूठी लाल अँगूठी के साथ-साथ उँगलियों में थमा सिगरेट भी था।

और इसके पहले कि जया कुछ पूछे, धुआँ उड़ाते हुए नादिरा दस्तूर ने एक लम्बा कश खींचा और सधे अन्दाज़ से एक बाँह को फैलाते हुए बोली, "मिस माधुरी, बड़ी बेजान-सी जगह लगती है—रात को शायद डिनर पर कुछ रौनक रहेगी। आप सामने के कमरे में हैं न ! मैं गुसल ले लूँ, तो आप ही के साथ चलूँगी।"

जया देखते-भर रहने के सिवाय कोई जवाब नहीं दे सकी। उठी और

सिर हिलाकर बाहर निकल आयी। कमरे में आकर क्षण-भर चौकन्नी-सी खड़ी रही। जो आवाज़ उसने सुनी थी—न गुल था, न चमन था···वह···वह किसके गले से निकलकर यहाँ तक आ रही थी? नादिरा दस्तूर।

साथवाले कमरे में झटके-झटके जया ने मुँह-हाथ धोया। कपड़े बदले। तन को कपड़ों में लिपटाते हाथ आज उतावले नहीं हुए, दर्पण में घुँघराले केशों का जाल देखकर आँखें मुस्करायीं नहीं, मुँह पर सौन्दर्य का गुलाबीपन देखकर प्रशंसा में पलकें सजायी नहीं—सामने पड़ती अपनी छाया को देखकर जया जैसे धक्का खा गयी। लगा, अपनी पलकों के नीचे काजल है, गर्दन में लचक नहीं ढीला-पन है, बालों में एक नहीं दो रंग हैं, और और कुछ नहीं, कुछ नहीं मीठे नीले रंग के पतले कपड़ों में वह उसकी बाँहें, गर्दन को आकार देता हुआ पतला-सा हार—नहीं-नहीं, यह नहीं। यहाँ तो है नादिरा दस्तूर, उसकी पैनी, बीत गयी-सी देह!

जया पैरों की आहट सुनकर कमरे से बाहर निकली। सामने नादिरा दस्तूर। लाल गहरे रंग में फीके अधर मुस्कराये, आँखों के कोरों पर अतीत की कई उनींदी रातें। चोलीनुमा काली जाली का ब्लाउज़, उसके अन्दर से उभरी हुई सिर धुनती-सी ढीली ऊँचाइयाँ और चूड़ियों-भरी कलाइयाँ।

"चलें," कहकर नादिरा दस्तूर ने अपने नरसड़ किये घुँघराले बालों को सिर झटककर हिलाया और बरामदे में उतर आयी।

अपने को समेटे जया उसके साथ चल रही है। पाउडर और सेंट की सुगन्ध, उड़ते-उड़ते तेल की महक और अनढकी दो बाँहें—दो बाँहें···

डाइनिंग-हाल की खिड़कियों की रोशनी घास पर पड़ रही है। हवा में हिलते परदों से टकराते कहकहे···जया और नादिरा दस्तूर ने साथ-साथ सीढ़ियाँ पार कीं और अलग-अलग मेज़ों की कुर्सियाँ खींच लीं।

हँसती हुई जिज्ञासा-मिश्रित आँखें। पंखे के एकदम नीचे जया छुरी-काँटे से उलझ रही है। नीचे बीच में सिर उठाकर दबी-दबी दृष्टि कहीं भटकती है और सामने पड़ी प्लेट पर लौट आती है। आसपास कुछ परिचित चेहरे हैं, चेहरों पर मुस्कानें हैं, यौवन है और जीवन में उल्लास है। खुशी है। खिलखिलाहट और खिलखिलाहट पर तैरती एक मीठी आवाज़—जया चौंककर देखती है—नादिरा दस्तूर का लिपा-पुता चेहरा और गले में यह मिठास! "ओह मिस्टर भारद्वाज, आप इनकार नहीं करेंगे···" भारद्वाज की दबी-दबी हँसी सिमटकर रह जाती है और नादिरा दस्तूर हँसती है। उसका लम्बा हाथ शायद 'पुलाव' की प्लेट थाम रहा है और आँखें एकसाथ ही भारद्वाज और उनके साथ बैठे

विदेशी को।

जया के हाथ और मुँह जल्दी-जल्दी चल रहे हैं। भुनी-भुनी सुगन्ध की तरावट गले के नीचे उतर रही है—एकाएक पानी उँडेलते वह ठिठकती है—अपने दायें-बायें और सामने देखती है, कुछ आँखों में परख है, निकटता है और—और वह है जो पलकों को किसी अनदेखे उछाल से जकड़ लेता है। पर···

नादिरा दस्तूर—उसका महीन आँचल कन्धे से खिसक गया है, वक्ष का उभार जैसे ब्लाउज को मसल रहा है और हँसती-हँसती नज़र विदेशी को गट्टे में भर-भरकर बार-बार उछाल रही है।

"मिस माधुरी, आज के प्रस्ताव से क्या आप सचमुच असहमत थीं?" गौरवर्ण जुल्सी के शब्द, जैसे प्रस्ताव में जया की सहमति नहीं कुछ और जानना चाह रहे हैं।

और जया फीकेपन से सिर हिलाकर कहती है, "जी हाँ।"

इस 'जी हाँ' की उपेक्षा से जुल्सी के चेहरे पर कुछ अटककर सहम जाता है। मस्तक पर निराशा की छिपी छिपी रेखा उभर आती है। और जया को 'पुडिंग' खाते-खाते लगता है जैसे उसने सिर हिलाकर जुल्सी के सामने से कोई भरीभरायी प्लेट खींच ली हो। और वह चीज़ क्या है—क्या है? जया स्वयं या नादिरा दस्तूर·· सस्ते मोतियों के महँगे दाम में खरीदा हुआ गले का हार, जिसकी लिशकती चमक में से नादिरा दस्तूर अपनी आँखों के लिए चमक खींच रही है। और उसकी काजल-लगी आँखें—संकेत से मुस्कराती हुईं, पलकें झपकाती हुईं—इन सबका कारण कहाँ है?

डिनर के बाद के कहकहों में से उठकर जया काटेज की ओर लौट रही है। चाल में ढीलापन नहीं, अपने को छुड़ाकर भाग आनेवाला शुष्क-सा कड़ापन है। और मन में जो आज है, उसे जया नहीं सोचेगी—सोच नहीं सकती। अकेले उसके हाथों ने फाटक खोला, बरामदे की बत्ती जलायी और कमरे की दहलीज़ पार कर ली। एक बार, अपने को पहचान लेने के लिए, दर्पण में चेहरा देखा—वही सँवारे हुए बाल हैं, रेखाओं से पतले-पतले अधर हैं, पर ब्लाउज और साड़ी में लिपटी देह उसकी नहीं, उसकी नहीं—नादिरा दस्तूर की है—नादिरा दस्तूर है···यह वह देह है जिसके ऊपर से कई रोशनियाँ और कई अँधेरे गुज़र गये हैं··· गुज़र गये हैं और उसे गुज़र जाने के लिए छोड़ गये हैं।

जया ने स्मृतियों के अनगिनत परदों में अपने को सौंप दिया और आँखों पर बाँहें रखे लेटी रही।

देर गये फाटक खुला और दोहरे कदमों की आहट बरामदे में आकर रुक

गयी। जया चौंकी नहीं।

हल्की नहीं, उन्मत्त कर जानेवाली गहरी हँसी। छन-छन चूड़ियों की झनकार किसी दबाव से टकराती हुई, और दीर्घ चुम्बन·· क्षण-भर बाद मीठे गले से गुडनाइट गुडनाइट !'' जया ने सिहरकर आँखों से हाथ उठा दिये। इतने मीठे और कहीं गहरे से उठकर आते हुए बोल ··और उसके जवाब में अधिकार भरा स्वर—'गुडनाइट !' फाटक खुला और बन्द हो गया।

सामने के कमरे का दरवाजा खुला। खिड़की के परदे खिंचे, 'लाइटर' से सिगरेट सुलगा और बिजली गुल हो गयी। जया को लगा जैसे अब अँधेरे में वह जाली की चोली, वह शोख रंग का आवरण अलग पड़ा रह जायेगा। और अँधेरे में नादिरा दस्तूर की देह शैय्या पर सिर धुनेगी और रात के लम्बे प्रहरों को गिनेगी ··नादिरा दस्तूर जया ने चौंककर अपने को खींचा, ठिठककर सामने की ओर देखा—अँधेरे बन्द कमरे में से एक टूटती-सी आहत आवाज आ रही है ···न गुल था, न चमन था···न मेरा आशियाना था···न गुल था···'

जुलाई, 1953

एक दिन

इस घर पर से होकर सर्दियां गुजर गयीं, गर्मियां आयीं, फिर सर्दियां—बहार और फिर गर्मियां। सावन शुरू हो गया था। काले कजरारे मेघों की आपस में होड़ होती, बल खाती बिजली चमकती और छम, छम, छम बरखा से धरती भीग जाती। जाने कहां से बादल घिरते, कहां पर छाते, और कहां पर बरस जाते!

दो दिन से धूप नहीं निकली। दिन-भर आकाश घिरा रहता, और रात को चांद-तारों के बिना दुनिया अन्धी हो गयी लगती। आज शाम को धर्मपाल काम से लौटे तो चिन्तित दीख रहे थे। कुर्सी पर बैठते हुए श्यामा से गम्भीर स्वर में बोले "श्यामा, जगदीश का तार आया है। बीमार अधिक है..."

श्यामा का जी धक् से रह गया।

"है भी तो अकेला, तुम्हें भेजने को लिखा है।"

यह सुनकर श्यामा एक हाथ से साड़ी का छोर पकड़े रही और दूसरे में तार। एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा और फिर सोचा कि कौन उसके पास बैठा है। भाई नहीं, बहिन नहीं, मां नहीं—और मां पर विचार रुकते ही आंखें भर आयीं। इतनी देर हो गयी उसे ससुराल आये, पर भाई के सिवाय और कौन है जिसको उसकी खोज-खबर भी हो? अपने घर में वह दुखी नहीं, पर अपना सुख सुनाये किसे? आंसू टपटप निकल पड़े।

"इधर आओ श्यामा, घबराओ मत। कोई ज्यादा फिक्र की बात नहीं होगी, अकेला है..."

श्यामा पति के पास जाकर और भी जोर से रो दी। जैसे कहना चाहती हो, 'भाई का प्यार तुम नहीं समझते, मायके में और कोई नहीं...'

रात तो किसी भी तरह कटने में नहीं आती। धर्मपाल बोले, "श्यामा, कल नन्दू को साथ लेकर जगदीश को देख आओ। सफर लम्बा है, साथ किसी का होना जरूरी ही है।"

श्यामा को सहारा मिला। लेकिन समस्या क्या इतनी सहज है? एकदम सोचा—पति को अकेला छोड़ जायेगी? अकेला... नहीं। शीला? वह इस घर से बाहर तो नहीं! पर पति की तो उसने उस ओर मुँह करते भी नहीं देखा। पर 'घर' पर वह अटक जाती है। क्या वह पति को पहचानती नहीं? ब्याह हुए कितनी देर हो गयी है लेकिन कभी उसने अपने को अलग नहीं पाया। कभी-कभी तो जैसे वह खीझ भी उठती है। लेकिन उस खीझ में खिंचाव कहाँ होता है? यहाँ तो वह विवश है, बेबस है। असहाय-सा समझ श्यामा ने अपने को पति की बाँहों में डाल दिया और एक बार फिर भाई की बीमारी की याद करके रो पड़ी।

दूसरे दिन सुबह से दुपहर तक वह व्यस्त रही। कपड़े सहेजे, पति के कपड़ों को अलग छाँटा—उसके जाने के बाद उन्हें दिक्कत न हो, नौकर-चाकरों को हिदायतें दीं। रक्खो को बहू के भाई की फिकर न हो, ऐसी बात नहीं। पर कुछ दिन तो आराम वह भी चाहती है। कृत्रिम स्नेह जताकर बोली, 'बहूजी, कुछ देर लेट जाओ। लम्बा सफ़र तय करना है।"

श्यामा लेट गयी। सोचा, गृहस्थी के लम्बे-चौड़े धन्धे हैं—अभी तो कोई बाल-बच्चा नहीं, फिर भी सुबह से काम में लगी हूँ। जरा आँख लगी ही थी कि चौंककर उठ बैठी। रक्खो अपनी कर्कश आवाज़ में कह रही थी, "आइए जी, आइए जी ...!"

श्यामा को महरी के आने का अचम्भा-सा हुआ। पर वहाँ—सामने तो शीला खड़ी थी! उसे देखकर वह छिप नहीं पायी। हैरान-सी रह गयी, पर शिष्टाचार। खड़ी होकर बोली, "आइए न, आइए!" और फिर पास पड़े सोफ़े की ओर इशारा करते हुए कह उठी, "बैठिए।"

शीला बैठी तो जरूर, लेकिन उस शिष्टाचार में रुखाई की मात्रा जानने में उसे देर नहीं लगी। हाथ के संकेत से महरी और रक्खो को बाहर बैठे रहने को कहा। नौकर-चाकरों को ऐसे मौकों में मजा आता है, पर इनके साथ ज्यादा ठीक अच्छी नहीं।

रक्खो और महरी बाहर चली गयी, लेकिन मर्जी से नहीं। महरी तो जरूर अपना हक-अधिकार समझती है, पर शीला कम सयानी नहीं। क्या वह श्यामा के सामने महरी को अपना भेद जतायेगी? श्यामा के चेहरे पर जरा सकोच

और छिपी पड़ी खिन्नता-सा भाव देखकर शीला बोली बहिन नन्दू ने बताया है कि वीर की तबीयत अच्छी नहीं ! क्या पहले कोई खत आया था ?

श्यामा ने शीला की आँखों को पढ़ सकने का प्रयत्न करते हुए कहा नहीं कल ही तार आया है। पता नहीं कैसा है ! कोई पास भी है या नहीं।

'बहिन घबराना मत कहते कहते शीला के बोल भारी-से हो गये रास्ते में जरा एहतियात ही बरतना। नन्दू साथ ठीक रहेगा। फिर बाँहों में पड़ी ढेर सी चूड़ियों की ओर दृष्टि डालकर कहा सम्भाल ही रखना जवरों की बाँहें ढकी ही अच्छी हैं। आजकल जाने क्या कुछ पता नहीं।

श्यामा को यह सलाह कैसी लगी शीला ने नहीं जाना। उसे जानकर करना भी क्या है ? श्यामा की नजर न जाने क्यों घड़ी की ओर गयी—धर्मपाल के आने का समय हो गया। क्या शीला नहीं जानती ? मगर श्यामा कहे किस बहाने ? यह तो उसे अपने आप ही समझना चाहिए। पर यह क्या ? उसे क्या पति से परदा करना है ? फिर भी पता नहीं क्यों वह नहीं चाहती कि शीला के बैठे वह यहाँ आयें। बाहर से जूतों की आहट आयी। श्यामा चौकन्नी हुई। शीला ने सिर का दुपट्टा ठीक किया। और परदा उठाकर धर्मपाल अन्दर आ गये। आये और देखकर ठिठक गये।

श्यामा के चेहरे उभर आये और शीला की ऊपर हुई नजर जैसे धक्का खाकर नीचे उतर गयी हो। धर्मपाल रुके हुए पैर जब वापिस लौटने लगे तो श्यामा सँभली। कुछ खीझ से कुछ चिढ़कर बोली आओ न बैठो न जी !

धर्मपाल ने पत्नी की ओर बिना देखे कुर्सी खींची और बैठ गये। पर सामने की ओर नजर नहीं उठा सके। आज शीला यहाँ कैसे ? अपने पर जैसे गुस्सा सा आया। वह बाहर महरी और रखवो को देखकर दूसरे कमरे में जा सकते थे। पर

गाड़ी का सब ठीक ठाक हो गया है न ? श्यामा ने कुछ छिपाती हुई आवाज में पूछा।

हाँ हाँ सीट बुक हो गयी है। कहकर धर्मपाल को अपनी स्वयं अपनी आवाज अच्छी नहीं लगी। लगा जैसे वह कुछ असुविधा-सी हो रहा है।

बाहर रखवो और महरी एक-दूसरे की आँखों में देख रही हैं कुछ होने वाला है। जमाई को देखकर महरी ने विजय की दृष्टि से रखवो की ओर देखा था। जाने क्यों ?

शीला की आँखें नीचे देख रही हैं और हाथ अनजाने में होकर जैसे गोदी में गिर पड़े हैं। उठ जाये पर लगा पाँव जैसे चल नहीं पायेंगे। लेकिन क्या

उसका यहाँ बैठना ठीक है ?···वही कमरा है·· वही परदे हैं·· वही फर्श है और खुली आलमारी में पड़े तरतीबवार वही पति के कपड़े·· पर वह और उसके पति ? वह नहीं। शीला का दिल ऐसा हुआ जैसे किसी ने छलकते पानी को निर्दयता से ढाँप दिया हो। किसी तरह घुटते होते जा रहे गले से आवाज़ निकालकर बोली, "चाची महरी।"

यह धीमा स्वर बाहर तो नहीं पहुँच सकता था। श्यामा को दिल में शायद हँसी आ गयी थी। शीला पर अहसान-सा करते हुए पुकारा, "रक्खो, महरी को अन्दर भेजो।" और श्यामा के बुलाते ही शीला अपने को झकझोरकर उठ पड़ी। दुपट्टा एक तरफ से बहुत नीचा हो गया था, जैसे अपनी सुध न रही हो। पर नहीं, चाल वैसी ही जमी हुई थी।

महरी अन्दर आयी। देखा, 'बच्ची' उठकर दरवाजे तक आ गयी थी और साथ-साथ श्यामा भी। "अच्छा जी,"—श्यामा ने ज़रा-सा मुस्कराकर हाथ जोड़े, जैसे किसी पराजिता को देख रही हो।

शीला ने उत्तर दिया और सहज कण्ठ से बोली, "अच्छा, अपना ख्याल रखना और बीर की सेहत का पता देना।" और बाहर निकल गयी।

पीछे से महरी ने दुपट्टे का फर्श पर पड़ता छोर पकड़ लिया और पहली सीढ़ी उतरते ही उसने शीला को कन्धों से पकड़कर सहारा दिया। अब तक सबकुछ समझ गयी थी। जमाई कुछ बात करते तो क्या दृष्टि इतनी जल्दी फिरा लेते !

और धर्मपाल शीला की ओर नहीं देख सके, नहीं देख सके। आँखें जैसे एक बार भूली हुई तस्वीर को देखना चाहती थीं, पर जब शीला उठकर श्यामा के साथ-साथ चल दी थी तो उन्होंने सिर ऊँचा किया और एकदम ऐसा लगा जैसे शीला पहले से लम्बी हो गयी थी—लम्बी ?···नहीं, उसका भरा-भरा बदन दुबला हो गया था। तिल्लेदार जूती को रेशमी सलवार नीचे तक छू रही थी—और फर्श पर पड़ते हुए शीला के पैरों को देखकर उन्होंने सोचा कि उसमें एक ठहराव का अन्दाज़ था जो अवज्ञा सहकर भी शान से आगे बढ़ना जानता है।

नीचे · नीचे, दिल के बहुत नीचे किसी परदे से उठकर वह दिन धर्मपाल की आँखों में उतर आया जब इसी तरह शीला को तैयार खड़े देख उन्होंने अचानक उसे खींचकर अधीरता से बाँहों में भर लिया था। उसकी आँखें बन्द थीं और उनकी खुलीं, जैसे नारी की मूर्च्छित-सी पड़ी सुन्दरता कह रही हो—लो देख लो !

श्यामा वापिस आकर पति के निकट खड़ी हो गयी। एक बार परीक्षा की

नजरों से पति की ओर देखा—तब तक धर्मपाल सिगरेट जला चुके थ। सिगरेट के फैलते-से धुएँ ने मानो उनके चेहरे की असली रेखाओं को ढक लिया। श्यामा ने कटाक्ष किया—"आज तो जमाना के बाद घर की बड़ी बहू को देखा है जी! क्या उससे डर गये थे? एक बात ही कर लेते बेचारी के साथ!'

धर्मपाल ने धुआँ छोड़ते हुए सोचा—'उससे क्या डरता? डराने को क्या तुम कम थी?' प्रत्यक्ष जरा हँसकर बोले, "मुझे क्या बात करनी थी? बात तो वह तुमसे करने आयी थी।"

"जगदीश का हाल पूछ रही थी और कहती थी वहाँ जाकर पता देना।'

शीला से यह सुनकर पता नहीं धर्मपाल को जी मे कैसा लगा, पर उन्होंने कुछ कहा नहीं। बात को बदलकर बोले, "सामान सब बाँध लिया है न?"

"हाँ, सब तैयार है।"

श्यामा पति के विषय परिवर्तन का अर्थ नहीं समझी। धर्मपाल ने कलाई पर बँधी घड़ी की ओर देखा और व्यस्त होकर कहा, 'और जो कुछ करना है कर डालो। समय अधिक नहीं।'

श्यामा ने कुछ अनोखे से ढंग से जवाब दिया—'सब ठीक कर लिया है। तुम्हारे सब कपड़े इस ओर वाली आलमारी मे रख दिये हैं। किसी गर्म कपड़े की जरूरत होगी तो उस बड़े बक्स में से निकलवा लेना।"

श्यामा एक क्षण चुप रही और कुछ अन्दर ही अन्दर छिपा लेने के प्रयत्न मे चूड़ियों को बार-बार हिलाते हुए रो पड़ी—टप-टप-टप! धर्मपाल ने देखा कि ऐसे आँसू एक बार पहले भी किसी की आँखों स बहे थ। क्यों आज उसे किन्हीं और आँखों की याद आ रही है? उठकर कन्धों से पकड़कर कहा, "श्यामा, पागल हो गयी हो क्या? जल्दी लौट आओगी। फिर लाड से थपथपाकर कहा, 'इतना छोटा दिल है?'

श्यामा पति की गोदी मे मुँह छिपाकर रो दी। धर्मपाल उन रेशमी रेशमी-से बालों को चूमना चाहते हुए भी सूँघकर रह गय। उन्हें लगा कि उनकी सुगन्धि बहुत तेज थी—और उस तेजी का आभास उन्हें आज कितनी देर के बाद हुआ।

कल बादल फटे थे, आज फिर घिर आये। बादलों के परदों-के-परदे आसमान पर चढ़े आ रहे थ। दुपहर की कड़कड़ाती सफ़ेदी न जाने कहाँ खो गयी थी। कभी हल्की फुरकी हवाएँ झूमते झामते पेड़ों को चूमकर परदा को हिला जाती। शीला सोफ़े पर अधलेटी थी। महरी ने परदे उठा दिय थ। और फ़र्श पर बैठी-

बैठी उलझी हुई ऊन को सुलझा रही थी। उस दिन ऊपर से आकर बच्ची निढाल-सी होकर बिस्तर पर लेट गयी थी, और घण्टों रोती रही थी। चाची ने चुप कराने का कोई प्रयत्न नहीं किया। सिर्फ पास बैठी बच्ची के सिर पर हाथ फेरती रही। और उसी दिन से बच्ची अनमनी-सी लग रही है।

आज सुबह चाची बोली, "बच्ची, यह ऊन पड़ी हुई है। कुछ शुरू कर लो न! सर्दियाँ आ रही हैं। ज़रा जी भी लगा रहता है।"

'हूँ' करके बच्ची चुप रह गयी। गद्दियों के सहारे बैठी थी। सिर पर कपड़ा नहीं था। गहरे नीले रंग के कपड़ों में चेहरे का रंग और भी घुला हुआ लगता था। बैठी-बैठी सोच रही थी—श्यामा कैसे व्यंग से मुस्करायी थी! जैसे कह रही हो—'तुम्हारा बड़प्पन आज कितना छोटा हो गया है!' और वह अन्दर आकर ऐसे ठिठक गये थे, जैसे कोई गलत जगह आ गया हो। आदमी कितने बेदर्द होते हैं! बात नहीं, क्या आँख उठाकर देख भी नहीं सकते थे? लेकिन क्यों वह चाहती है कि पति उसे एक बार देखते तो एक बार · वह दया की भूखी है कि तरस खाकर पति उस पर इतनी-सी मेहरबानी करें! ···

अपनी बेबसी, पति की निर्दयता और सौत की वह उपहासजनक हँसी आँखों में उतर आयी और अपने हाथों को आँखों पर रखकर शीला सिसकने लगी। महरी का हाथ रुक गया। वह जानती है कि जो दिल पति को देखे बिना दो साल से चुपचाप जब्त पड़ा था, उसे निर्मोही पति की एक छाया धकेलकर नीचे बहाये लिये जा रही है। बच्ची के हाथों को आँखों से अलग करके बोली, "माँ बलिहारी जाये, रोयें तुम्हारे दुश्मन!" फिर झट क्रोध-भरे लहजे में बोली, "हाय, हाय, अकल मेरी ही मारी जाती है, कपड़े भी निकाले तो यह? अच्छी-भली जानती हूँ जब-जब यह पहनती हो, दिन अच्छा नहीं गुजरता, फिर भी सुबह यह ले आयी! बुढ़िया होने को आयी, पर समझ नहीं।" कहते-कहते उठ खड़ी हुई।

शीला ने सब समझा। जब से होश सँभाला है, वह महरी के हाथों पली है। लाड़-चाव ज़िद—सब करती रही है। आज महरी को अपने-आपको फटकारते सुनकर जाने कैसा तो लगा। कैसे वह उन दिनासा देती रही है, किसी-न-किसी बहाने जी लगाती रही है! एक पल को अलग नहीं छोड़ती। महरी की कृतज्ञता से जी भर आया। वह साथ न होती, तो अब तक वह इस चार-दीवारी में जीवित रहती?

महरी वापिस लौटी और शीला को हाथ से उठाते हुए बोली, "उठो बच्ची, मैं सदके जाऊँ। कपड़े बदल डालो। बच्ची, मुझ पर गुस्सा न किया करो। सिर

सफेद हो गया है, अब क्या अक्ल ठिकाने रहेगी ?"

महरी बच्ची को कपड़े बदलवाने ले गयी। क्या शीला नहीं समझती ? आज चाची चाहती है कि बच्ची उस पर गुस्सा करे, जितना करे वह बुरा न मनायेगी, पर जिस अधिकारहीन आँचल मे वह अपने आँसू बहाये जा रही है, वहाँ उन्हें झेल लेनेवाला कौन है ?

बिना विरोध किये शीला ने कपड़े बदल डाले। यह सूट कभी उसे कितना पसन्द था ! पर आज उसकी पसन्द मे जान ही कहाँ है ? महरी ने हाथ मे लिये दुपट्टे को चूमकर बच्ची के हाथो पर डाल दिया। वह कितनी व्यस्त हो, कितनी अस्वस्थ हो, इन छोटी छोटी बातो को नही भूलती। शीला ने आगे दुपट्टा डाला और फिर कुछ सोचकर बोली, "चाची, सोऊँगी "

चाची ने पलँग पर तकिये लगा दिये और बोली "ठीक है बच्ची ! कुछ देर आराम कर लो ! कैसा बरसाती दिन है ! " और कुछ कहते-कहते रुक गयी।

बच्ची लेट गयी थी। चाची कहने लगी थी बरसात मे बेरियो पर डाले हुए झूलो की बात, पर झट ख्याल आ गया कि सुनकर बच्ची कहीं और-और ख्याल दौड़ाती रहेगी। चुप ही रहे तो अच्छा।

बच्ची लेटी हुई थी और चाची पास बैठी धीरे धीरे बच्ची के हाथ सहला रही थी। बच्ची को ऐसे पड़े देखकर चाची ने ममता-भरे लाड़ने स्वर मे पूछा, "बच्ची, क्यो, क्या बात है ? बोलो मेरी बच्ची !"

शीला क्या बोले ? पर इस स्वर की अवज्ञा वह नही कर पायेगी। चाची का हाथ पकड़कर बोली, "चाची, जी उदास है।"

"यह क्या मैं नही जानती, मेरी बच्ची ?" चाची का मातृत्व जैसे अन्दर-ही अन्दर चीत्कार कर उठा। जी अच्छा रह ही कैसे सकता है ? यह उमर और यह दुख ! जी हुआ कि वह भी बच्ची के साथ मिलकर रो दे, पर कितनी पागल है वह ? बच्ची को थपथपाते हुए बोली, "सो जाओ, बच्ची, तबियत हल्की हो जायेगी।"

ऊपर घर की विस्मृता बहू के पति कुर्सी पर पड़े-पड़े न जाने क्या-क्या सोच रहे थे। आज धर्मपाल काम से जल्दी आ गये थे। जानते थे कि श्यामा नहीं है। पर अधिक देर दफ्तर मे नहीं बैठ सके। श्यामा को गये अभी तीन चार दिन ही तो हुए हैं ! कल तार आया था—जगदीश को निमोनिया हो गया है। अकेले छोड़नेवाली हालत नहीं। कमरे कैसे सूने लगते हैं ? आज दोपहर को धर्मपाल

ठीक से खाना नहीं खा सके। पत्नी के चलते उदास होकर न खाया हो, ऐसी बात तो नहीं। फिर भी नारी की संदिग्ध छाया जैसे आगे पड़े खाने पर हर पल छायी रहती है। अभी अभी जब खाने के लिए नौकर उन्हें कपड़े दे रहा था तो वह सोच रहे थे—ये ज़रा-ज़रा से काम श्यामा के हाथों कितने अच्छे लगते हैं!

बाहर पानी तेज़ हो गया था। बादलों की गर्जना और बिजली की कड़कड़ाहट जैसे कानों को चौंका रही थी। धर्मपाल ने हाथ का सिगरेट नीचे फेंका और उठकर पलंग पर जा लेटे। सोचा, आदमी की दिनचर्या में भी औरत का कितना बड़ा हिस्सा है और श्यामा उसने तो जैसे उन्हें अपनी बाँहों से बाँध डाला है। जाती बार कैसी रो रही थी! एक ध्यान आया उस दिन शीला से कैसे अचानक मिलना हो गया? पर पर धर्मपाल नहीं चाहते कि वे इन बातों को सोचें। उन्हें जैसे अपने हाथों से किये किसी अन्याय की याद आ जाती है। और अब तकिये पर सिर रखते ही आज ढाई साल के बाद पहली बार ख्याल आया कि शीला से क्या इतनी दूर हो गये। वह बिचारी तो जानती तक न थी। और फिर श्यामा को ले आने पर कोई बखेड़ा नहीं उठाया, कोई झगड़ा नहीं किया। और वे? उन्होंने एक बार उसे देखा तक नहीं! कैसे रहती है कहाँ रहती है? इस अर्से में एक बार रुपया तक नहीं मँगवा भेजा। शायद शाहजी के यहाँ न आना होगा—और अब तक शाहजी अपनी बेटी को ले नहीं गये। ख्याल आया शीला को विदा करते शाहजी ने उनका माथा चूम चूमकर कहा था, 'बेटा, इसने तुम्हारा लड़ पकड़ा है, इसे निभाना।' कैसा निभाया है उन्होंने ..? धर्मपाल ने करवट ली। क्या वह श्यामा से कम सुन्दर थी? पर बम्बई में न जाने उन्हें क्या हो गया था! उन्हें लगा जैसे वे बदल रहे हैं। सोचा, क्या श्यामा का प्रभाव तो नहीं? नहीं, नहीं, शीला की वह दुबली देह जैसे चीखकर कह रही थी। दिमाग में जैसे हलचल-सी हो गयी। अब वे नहीं लेट सकेंगे।

धर्मपाल उठकर खड़े हुए। ढीला कोट पहना और सीढ़ियों से नीचे उतर चले। एक क्षण संकोच ने मानो पैर जकड़ दिये। पर यह तूफ़ान! क्या यह रुक सकेगा? क्या कहेंगे शीला से?

नीचे आँगन में आकर देखा, कोई नौकर चाकर नहीं था। आँगन पार किया। परदे नीचे पड़े थे। पर्दा उठाया तो सामने फ़र्श पर महरी बैठी कपड़ों की तह लगा रही थी। बच्ची सो गयी थी इसलिए दबे पाँवों बाहर आकर वह काम धन्धे में लगी थी। जमाई को देखते ही आँखें ऊपर नहीं उठीं। मानो कहती हो '' रिश्ता ऐसा है क्या कहूँ! पर तुम यहाँ कैसे? धर्मपाल भी महरी की ओर ठीक से देख नहीं पाये। दबी-सी आवाज़ में बोले, "महरी!" शायद कुछ

पूछना चाहते थे, पर महरी हाथ के कपड़े हाथ में लिये, बिना कुछ कहे-सुने बाहर चली गयी।

धर्मपाल एक क्षण परदे को पकड़े खड़े रहे। सोचा, न जाने शीला क्या कर रही होगी। कोई आहट तक नहीं आ रही। अन्दर पहुँचे। सोफा खाली था। सामने पलँग पर सिमटी-सिकुड़ी-सी शीला सोयी पड़ी थी। सिर पर बाँह रखी थी। पास एक और महीन दुपट्टा पड़ा था। जैसे भारी लगने पर उतार दिया गया हो। मुँह पर बिजली की रोशनी पड़ रही थी। वही चेहरा है, वही बाँहें और गोरे स्वच्छ पाँव। शीला ! मगर नहीं, यह आवाज़ गले से नहीं, उनके दिल से निकली थी और वहीं फैल गयी थी। शीला ! शीला बेखबर पड़ी थी। सोच-सोचकर इतनी थक गयी थी कि बन्द पलकों के अन्दर कोई स्वप्न भी नहीं देख पायी।

धर्मपाल पास आकर खड़े हो गये। क्या यह उचित है ? जैसे किसी ने चेता दिया हो। नहीं धर्मपाल आगे बढ़े—सिर पर रखी बाँह का स्पर्श किया। हल्के से पकड़ अपने सशक्त हाथों की उँगलियाँ शीला के बालों में डुबो दीं।

सिर पर पड़ते हुए दबाव से शीला चौंक गयी। सोचा, चाची है। आँखें खोलीं—और खुली रह गयीं। विश्वास नहीं आया, शायद वह स्वप्न देख रही है। उसका हाथ पति के हाथ में है और वह किसी निर्जीव पत्थर की तरह पड़ी है। धर्मपाल ने झकझोरते हुए काँपती आवाज़ से कहा, 'शीला।'

आवाज़ शीला को हिला गयी। पति के उदास-मलिन मुख की ओर शिकायत-भरी नज़रों से झुके-झुके देखा और विवश होकर रो पड़ी।

"शीला ! ..."

शीला रोये जा रही थी। लेकिन आँसू की बूँदें सिरहाने पर नहीं, पति के वक्ष पर पड़ रही थीं। बाहर बादल बरसे जा रहे थे और धरती भीग रही थी, और भीगी धरती के वक्ष में एक आलोड़न उठ रहा था—शायद निमाणी की प्यास ही ..

वह रात कितनी गीली थी, कितनी गहरी थी ! गरजते हुए बादलों का निनाद सुनकर भी बिजली चमकती जा रही थी। एक महीन सी रेखा किस गति से कजरारे बादलों को उन्मत्त किये जा रही थी ! और पति की गोद में पड़ी कल तक की बेबस और दुर्बल शीला आज रोकर भी हँसती जा रही थी। और धर्मपाल पत्नी को होले से पुकार भर लेने के सिवाय और कुछ नहीं कह सके—"शीला ! शीला ! शीला !"—और इस नाम से वह सब जुड़ गया जो दो साल पहले किसी अनिश्चित काल के लिए टूट गया था, बिछुड़ गया था। लेकिन

चाची ने ट्रे पकड़ा दी थी और शीला ने उसे मेज पर ला रखा था। और तब पति के सिरहाने ज़रा झुककर धीरे-से पति के बालों को छूती हुई मृदु कण्ठ से बोली, "उठना नहीं जी ? दिन चढ़ आया।"

धर्मपाल ने आँखें खोलीं, शीला बिल्कुल पास खड़ी थी। आँखों में भरकर देखा, कैसी निखरी-सी लगती है ! जैसे बीती हुई रात उसे रुलाकर हल्का कर गयी हो। खींचकर पास बिठा लिया। आँखों में सकोच नहीं, दूरी नहीं। "शीला ! ..." शीला लजा गयी। बैठे-बैठे चाय बनाकर प्याला हाथ में लिये बोली, "लीजिए न !"

"नहीं, रख दो।" धर्मपाल कह उठे। शीला ने पति की ओर देखा। उसमें आहत-सा अभिमान था। प्याला मेज पर रखकर बोली, "क्यों, क्या अभी उठोगे नहीं ?" और पति की बाँह पर हाथ रख दिया। धर्मपाल कुछ क्षण देखते रहे और फिर आँखों की कोरों से दो बूँदें ढुलक गयीं। शीला ने अपने एक हाथ से आँखें ढक दीं और दूसरे से पति के बाल सहलाते हुए बोली, "सुबह-सुबह यह क्यों ? अपने से नाराज़ हो रहे हो ?"

"नहीं," धर्मपाल रुँधी-सी आवाज़ में बोले, "तुमसे क्या कहूँ शीला ? मैं नहीं जानता।"

बीती हुई रात के बाद भी कुछ रहा-सहा मलाल पति के इन दो आँसुओं में घुल गया। स्वय ही सोचा, नारी इन बातों में कितनी कच्ची होती है ? लेकिन इतना पश्चात्ताप काफी नहीं। पति के वक्ष पर सिर रखकर बोली, "कैसी बातें करते हो ? तुमसे आज तक क्या मैंने शिकायत की ?"

इसका जवाब धर्मपाल ने कुछ नहीं दिया। वैसे सोचते थे कि एक उपालम्भ ही दिया होता। पर उसने तो जवाब नहीं माँगा और आज भी तो उस बात को कैसे बचाती जा रही है ! जैसे आज के दिन में वह उन सब बातों को नहीं मिलाना चाहती।

शीला ने पल-भर उत्तर की, नहीं तो कुछ सुनने की, प्रतीक्षा के बाद कहा, "उठो जी ! छोड़ो इस सोच को, आज क्या काम पर नहीं जाओगे ?"

"नहीं।"

"अच्छा !" शीला हँस पड़ी। पुरानी बात याद आ गयी। जब वह नयी-नयी ब्याही आयी तो पति अक्सर देर तक सोते रहते। उठने के लिए कहती तो कहते—'शीला, आज काम पर जाने को जी नहीं चाहता।' वह हारकर मुस्करा देती। शरारत से कहती—'लालाजी तो कुछ नहीं पूछेंगे !' और धर्मपाल कुछ खीजकर उठ बैठते। और वह मन-ही-मन मुस्कराकर रह जाती।

जैसे कहती हो—दिन मे तो छोडा करो !

"तो आज भी काम पर नही जाग्रोगे ?"

धर्मपाल ने सिर हिलाया—"नही।"

"अच्छा तो नहा-धोकर फिर लेट जाना। कपडे ऊपर से मँगवा देती हूँ। रखे होगे ही ऊपर।" कहकर शीला महरी को बुलाने ही लगी थी कि धर्मपाल बोले, "नहीं, उसे मत भेजो, अपने-आप जाकर निकाल लाओ।"

धर्मपाल के स्वर मे अनुरोध था। जैसे पत्नी को उसके अधिकार की याद दिला रहे थे। ऊपर जाने की अनिच्छा, वह भी श्यामा की अनुपस्थिति मे—पर 'न' करने मे भी शीला को सकोच-सा हुआ। अनमनी-सी होकर उठी। महरी को बुलाकर कहा, "चाची, उनके कपडे लाने हैं ऊपर से। चलो, तुम्हारे साथ चलती हूँ।"

चाची ने एक बार बच्ची को खुली दृष्टि से देखा और जरा-सा हँसकर बोली, "चलो, बच्ची !" दिल मे कह रही थी—इस काम के लिए नहीं जाऊँगी !

शीला ने कमरे में प्रवेश किया। उस दिन भी तो यही सब कुछ था। कितना पराया लगा था ! शायद श्यामा इसकी मालकिन लग रही थी। और आज ? कपडो की आलमारी खोलते-खोलते लगा कि दो वर्ष बाद उसे फिर अपना अधिकार मिल गया है। वे दो वर्ष, जो कटने मे नही आते थे, आज कितने छोटे हो गये हैं ! कपडो को तरतीबवार रखनेवाले हाथो से आज पहली बार शीला को ईर्ष्या-सी हुई। और कपडे निकालकर जब शीला नीचे उतरी तो पाँवो मे गति थी, और चाल मे घर की स्वामिनी होने का रोब था।

बाँह पर रखे कपडो को देखकर महरी ने मन-ही-मन कहा—'भगवान करे, बडी-बडी उम्र हो बच्ची की और जमाई की भी !' आज क्या वह जमाई को बच्ची से अलग देख सकती है ?

शीला कपडे लिये आकर खडी हुई तो धर्मपाल को लगा कि वे पुराने दिन लौट आये हैं और इस बीच के दो साल इस भूली-सी कडी से निकलकर कहीं अलग होकर अदृश्य हो गये हैं। और वह और शीला, टूटा हुआ तार जैसे फिर जुड गया है···

मार्च, 1952

कलगी

हल्के से कम्पन के बाद सुलखी ने ढीले कुरते पर अटक गयी जंजीर को हिलाकर हाथ से छुड़ाया, पटट की ओढ़नी माथे पर खींची और झरोखे म स अपनी दो बड़ी बड़ी आँखें नीचे गड़ा दी।

मजबूत घोड़े पर बैठा सवार मखमली झोला और चमचमाता कमरबन्द, कमरबन्द से लटकती तलवार की सुनहली मूठ, चौड़ी छाती, अकड़े हुए कन्धे, तीखे नक्श-नैन सिर पर केसरी साफा और लहरों सी झलक मारती माथ पर लगी कलगी। यही तो वह बहादुर सरदार है जो क्षण भर पहले सुलखी से विदा लेकर नीचे उतरा है। यही तो है सुलखी क सिर का धनी जिसका चौड़ा वक्ष और बलिष्ठ बाँहे देखकर उसकी मीठी देह पर स तूफान गुजर जाता है।

सुलखी की रस भरी आँखो ने मोह मे भीगकर ड्योढ़ी पर खड़ जोधासिंह को मन की ओर खींचा, आँखें डबडबा आयी और धुंधले-से भीगेपन मे जोधासिंह के माथे पर चमकती कलगी तैर गयी। सुलखी ने चौखट पर कुहनी टेकी सिर झुकाया आँखें भर आयीं जोधासिंह ने घोड़े को थाप दी ऊपर देखा और आँखो ही आँखो मे रात के उन प्रहरो का आश्वासन दिया जब दिन भर की लड़ाई के बाद वह दीवटो के प्रकाश म बैठी सुलखी के पास पहुँच जाया करता है।

सुलखी ने स्वच्छ दृष्टि म एक बार जोधासिंह को देखना चाहा, लेकिन आँसुओ के धुंधलके मे केवल चमचमाती कलगी झलक मारकर रह गयी। घोड़े की टाप ड्योढ़ी म से निकलकर दूर होती चली गयी। टप टप दूर, और दूर, हवा म विलीन हो गयी।

सुलखी ने आँचल आँखो को लगाया। झरोखे स दीखती ड्योढ़ी की छत

किसी अभिशाप के धुएँ ने ढाँप दिया। सुल्लखी सदा की तरह ऊपर अटारी पर जा चढ़ी। आँखें मूँद मन-ही मन मालिक का नाम लिया और आकाश पर चमकते पहले तारे की ओर आँखें घुमायीं। बादलों की पतली लहरें—लहरों से बँधी लहरें और लहरें · और वह बादलों के परदों में से झाँकता हुआ रात का भागी-भरा पहला तारा—सुल्लखी ने हाथ जोड़े, देखकर मस्तक नत किया।

प्रियजनों की कुशल के लिए, जोधासिंह की कुशल के लिए वह जाने कब से तुलसी के निकट दीप जलाती आयी है। आकाश में चमकते तारे को देख नत-मस्तक होती आयी है। और अकस्मात गड़गड़ाती भारी तोपों की आवाज़ों से उसके पाँव हिले, सिर घूमा, तारा टूटा और वह लड़खड़ाकर दीवार के साथ जा लगी।

नगर के बाहर चिलियाँवाला मैदान में आमने-सामने तोपें। गोले फटने लगे। धमाकों में सूरमाओं की हुंकार विलीन होने लगी। विधाहत घोड़े और उनके सवार पल-पल सीना तानते और फूल होकर मिट्टी को चूम लेते। धरती वही थी, वही धरती थी, पर उसके ऊपर के पाँव डोल गये थे। सिंह की तरह फिरंगी का सामना करनेवाली मज़बूती आज बिखर चुकी थी। जिन अगणित बाजुओं ने बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी, बड़े-बड़े प्रहार झेले, आज वह फिरंगी की धार तले कटकर रह गयी। रात काली होती चली जा रही थी और रात का भयानक अन्धकार लाशों पर फैलता हुआ नगर की दीवारों से लिपटने लगा। मिट्टी ख़ून से लाल हो गयी और सैकड़ों सिरों की सरदारियाँ धूल में जा गिरीं।

ऐसी निर्दयी रात के प्रहरों में सुल्लखी की नींद नहीं टूटी। आँखों पर छाये मूर्च्छा के अन्धे परदों में से कोई तस्वीर ऊपर नहीं आयी। कुछ पता नहीं—ऊँचे बुर्ज की चमकती रोशनी टिमटिमाकर कब बुझ गयी, खालसों की सेना की हिम्मत क्योंकर टूट गयी, कैसे बहादुरों के हाथों से विजय की पकड़ छूट गयी।

भेदती हवा के तीखेपन से जब सुल्लखी की रात भर की मूर्च्छा टूटी, तो एकाएक आसपास फैले स्त्रियों के समूहों के रुदन का स्वर ऊँचा हो गया। सुल्लखी ने फटी-फटी आँखें खोलीं। जोधासिंह की ख़ून से लथपथ देह आँखों में तैर गयी। देखा—सिर धड़ से अलग हो गया था। और माथे की चमचमाती कलगी धूल में जा गिरी थी। वह कलगी छोटी-सी जागीर के मालिक सरदार जोधासिंह के माथे की नहीं थी—वह पंजाब के माथे की कलगी थी, जो आज फिरंगी के पैरों तले लोट रही थी।

सुलखी मिट्टी-सी होकर जमीन पर पड़ी रह गयी। पट्टू की ओढ़नी किसी अतीत के छिन्न-भिन्न हो गये स्वप्न की तरह बिखर गयी और अस्तव्यस्त कपड़ों में लगी सोने की जंजीर फिरंगी की नयी लौह-शृंखला की तरह वक्ष के मध्य चमकती रही।

दिसम्बर, 1952

नफ़ीसा

नफ़ीसा हँस रही थी। मौत के सर्द बिस्तर पर बैठकर हँस रही थी। भोली बच्ची नहीं जानती कि उसके अब्बा और अम्मी अपनी गोदी से उतारकर उसे हास्पिटल के एक कोने में क्यों छोड़ गये हैं।

सर्दियों की उदास शाम, आँगन में खेलते हुए उसके भाई-बहिन बाहर से आकर अम्मी से लिपट गये होंगे। अम्मी दुलार कर, प्यार कर, उन्हें बिस्तर में लिटाकर थपकियाँ दे रही होंगी, लेकिन हाय यह प्यारी-सी बच्ची, जनरल वार्ड में, घरवालों से दूर!

सिस्टर कह रही थी—"देखिए, ज़रा-सी बच्ची है। सात साल की होगी। कुछ दिनों की मेहमान है।"

बड़ी-बड़ी आँखों पर काली घनी पलकें, गोरा रंग, पतले-पतले अधर। मासूम अनजान लड़की पास पड़े हुए मिट्टी के खिलौने से खेल रही है। खेल रही है तो खेलती ही जायेगी। नर्स आयेगी, दवा पिलाकर लौट जायेगी, तीखी हवा दरवाज़े और खिड़कियाँ खटखटायेगी, बाहरवाली रात में सितारों की रोशनी झिलमिलायेगी और फिर आखिर में आँधी के एक झोंके के साथ बुझ जायेगी। बच्ची खेलती जा रही है, खेलती जायेगी। शायद खेलते-खेलते सोच रही है—'कल अब्बा आयेंगे, गुड़िया लायेंगे, गुब्बारा लायेंगे। आहा, अम्मी भी आयेंगी तो ' पर लौट भी तो जायेंगी! क्यों नहीं वह मेरे पास रहतीं? वह अच्छी नहीं हैं। ठीक है, अम्मी खराब हैं। क्यों उसने नूरी और इकबाल से उसे अलग कर दिया है? दोनों मिलकर खेलते होंगे, नूरी अम्मा के पास सोती होगी, इकबाल अब्बा के पास, और मैं'' ?'

बच्ची चारों तरफ़ देखती है। कोई बच्चा रो रहा है। कोई सो गया है।

किसी के चिल्लाने की आवाज़ नर्स को अन्दर खींच लायी है। और नफ़ीसा सोच रही है—और मैं ? वह नहीं जानती कि अम्मी के पास भी दिल है। जो अपने जिगर के टुकड़े को अलग कर, आँखों से ओझल करके भी जीती है। वह नहीं जानती कि उसे देखकर लौट जाने पर उसकी अम्मी किस तरह छटपटाती है, बेबसी से भरी हुई आँखें बच्ची की तरफ उठती हैं और खाली हो जाती हैं। लौटते वक्त खामोश अब्बा की एक लम्बी साँस अम्मी के दिल को चीर जाती है। ज़ख्म बह जाता है। आँखें धुल जाती हैं। यह उसकी बच्ची है ! किस बेदर्दी से उसे छोड़ आयी है ! कौन उसके पास सोयेगा ? माँ जानती है कि उसकी अभागी मासूम नफ़ीसा इस सर्द रात में अकेली सोयेगी और उसकी विवश बच्ची, यही सोच-सोचकर रोयेगी।

बच्ची फिर हँसती है। खेलती है। हँस-हँसके दिन और रात झेलती है। लोगों का ख्याल है, वह माँस पूरे कर रही है। लेकिन वह फिर भी हँसती है। वह जीवन का मोल नहीं जानती, मौत को भी नहीं पहचानती। उसकी आँखों में भोलापन है, सिर्फ़ भोलापन ! उसे न बीमारी का खौफ़ है, न मौत का डर। वह तो जानती है खिलौने, गुड़िया, मोटर, ताँगा, अम्मी और अब्बा, नूरी और इकबाल।

यहाँ आके वह हैरान है। बहुत-से बच्चे हैं, सफ़ेद-सफ़ेद कपड़े पहने सिस्टर कभी कोई आती है, कभी कोई। उनमें अम्मी तो नहीं होती ! वह तो शाम को आती है।

नर्स सूप पिलाने आती है और नफ़ीसा हँसती है। न जाने क्यों ?··· रात हो गयी है और वह लेट गयी है। बाहर हवा तेज़ हो गयी है और उसकी गोरी दुबली बाँह की नाड़ी धीमे-धीमे' साँस जल्दी-जल्दी ऊपर-नीचे उठती है। लम्बी-लम्बी काली पलकें, दर्द की अलसायी पपड़ियों से झपक रही हैं। अब वह नन्ही-सी लड़की आँखें बन्द कर लेगी, थककर सो जायेगी, दूर— बहुत दूर कहीं खो जायेगी ··जहाँ से उसे न उसके अब्बा ला सकेंगे, न अम्मी··।

जनवरी, 1944

मेरी माँ कहाँ

ब्लोच रेजीमेण्ट के बहादुर यूनस खाँ ने जब आसमान की ओर देखा तो चाँद आधी मंजिल पार कर चुका था। आज चार दिन के बाद उसने चाँद सितारे देखे हैं। अब तक वह कहाँ थी ? नीचे, नीचे, शायद बहुत नीचे जहाँ की खाई इन्सान के खून से भर गयी थी। जहाँ उसके हाथ की सफाई बेशुमार गोलियों की बौछारें कर रही थी। लेकिन, लेकिन वह नीचे न था। वह तो अपने नये वतन की आजादी के लिए लड रहा था। वतन के आगे कोई सवाल नहीं, अपना कोई ख्याल नहीं ! तो चार दिन में वह कहाँ था ? कहाँ नहीं था वह ? गुजराँवाला, वजीराबाद, लाहौर ! वह और मीलों चीरती हुई ट्रक। कितना घूमा है वह ? यह सब किसके लिए ? वतन के लिए, कौम के लिए और ? और अपने लिए ! नहीं, उसे अपने से इतनी मुहब्बत नहीं ! क्या लम्बी सड़क पर खड़े-खड़े यूनस खाँ दूर-दूर गाँव में आग की लपटें देख रहा है ? चीखों की आवाज उसके लिए नयी नहीं। आग लगने पर चिल्लाने में कोई नयापन नहीं। उसने आग देखी है। आग में जलते बच्चे देखे हैं, औरतें और मर्द देखे हैं। रात रातभर जलकर सुबह खाक हो गये मुहल्लों में जले लोथ देखे हैं ! वह देखकर घबराना थोड़े ही है ? घबराये क्यों ? आजादी बिना खून के नहीं मिलती, क्रान्ति बिना खून के नहीं आती और, और, इसी क्रान्ति से तो उसका नन्हा-सा मुल्क पैदा हुआ है ! ठीक है। रात-दिन सब एक हो गये। उसकी आँखें उनींदी हैं, लेकिन उसे तो लाहौर पहुँचना है। बिल्कुल ठीक मौके पर। एक भी काफिर जिन्दा न रहने पाये। इस हल्की हल्की सर्द रात में भी 'काफिर' की बात सोचकर ब्लोच जवान की आँखें खून मारने लगीं। अचानक जैसे टूटा हुआ क्रम फिर जुड गया है। ट्रक फिर चल पड़ी है। तेज रफ्तार से।

सड़क के किनारे-किनारे मौत की गोदी में सिमटे हुए गाँव, लहलहाते खेतों के आस-पास लाशों के ढेर। कभी-कभी दूर से आती हुई 'अल्ला-हो-अकबर' और 'हर हर महादेव' की आवाज़ें। 'हाय, हाय'·· 'पकड़ो-पकड़ो'·· 'मारो-मारो'·· । यूनस खाँ यह सब सुन रहा है। बिल्कुल चुपचाप— इससे कोई सरोकार नहीं उसे। वह तो देख रहा है अपनी आँखों से एक नयी मुग़लिया सल्तनत— शानदार, पहले से कहीं ज़्यादा बुलन्द···।

चाँद नीचे उतरता जा रहा है। दूध-सी चाँदनी नीली पड़ गयी है। शायद पृथ्वी का रक्त ऊपर विष बनकर फैल गया है।

"देखो, ज़रा ठहरो।" यूनस खाँ का हाथ ब्रेक पर है। यह—यह क्या ? एक नन्हीं-सी, छोटी-सी छाया ! छाया ? नहीं—रक्त से भीगी था बार में मूर्च्छित पड़ी एक बच्ची !

ब्लोच नीचे उतरता है। ज़ख्मी है शायद ! मगर वह रुका क्यों ? लाशों के लिए कब रुका है वह ? पर यह एक घायल लड़की··। उससे क्या ? उसने ढेरों-के-ढेर देखे हैं औरतों के·· मगर नहीं, वह इसे ज़रूर उठा लेगा। अगर बच सकी तो·· तो · । वह ऐसा क्यों कर रहा है—यूनस खाँ खुद नहीं समझ पा रहा । लेकिन अब इसे वह न छोड़ सकेगा··· काफ़िर है तो क्या ?

बड़े-बड़े मज़बूत हाथों में बेहोश लड़की। यूनस खाँ उसे एक सीट पर लिटाता है। बच्ची की आँखें बन्द हैं। सिर के काले घने बाल शायद गीले हैं। खून से। और, और चेहरे पर ? पीले चेहरे पर·· रक्त के छींटे।

यूनस खाँ की उँगलियाँ बच्ची के बालों में हैं और बालों का रक्त उसके हाथों में ' शायद सहलाने के प्रयत्न में ! पर नहीं, यूनस खाँ इतना भावुक कभी नहीं था। इतना रहम—इतनी दया उसके हाथों में कहाँ से उतर आयी है ? वह खुद नहीं जानता। मूर्च्छित बच्ची ही क्या जानती है कि जिन हाथों ने उसके भाई को मारकर उस पर प्रहार किया था उन्हीं के सहधर्मी हाथ उसे सहला रहे हैं !

यूनस खाँ के हाथों में बच्ची···और उसकी हिंस्र आँखें नहीं, उसकी भाई आँखें देखती हैं दूर कोयटे में—एक सर्द, बिल्कुल सर्द शाम में उसके हाथों में बारह साल की खूबसूरत बहिन नूरन का जिस्म, जिसे छोड़कर उसकी बेवा अम्मी ने आँखें मूँद ली थीं।

सनसनाती हवा में—कब्रिस्तान में उसकी फूल-सी बहिन मौत के दामन में हमेशा-हमेशा के लिए दुनिया से बेखबर···और उस पुरानी याद में काँपता हुआ यूनस खाँ का दिल-दिमाग़।

आज उसी तरह, बिल्कुल उसी तरह उसके हाथों में ''। मगर कहाँ है वह यूनस खाँ जो कत्ले-आम को दीन और ईमान समझकर चार दिन से खून की होली खेलता रहा है—कहाँ है ? कहाँ है ?

यूनस खाँ महसूस कर रहा है कि वह हिल रहा है, वह डोल रहा है। वह कब तक सोचता जायेगा। उसे चलना चाहिए, बच्ची के जख्म ! '' और फिर, एक बार फिर थपथपाकर, आदर से, भीगी-भीगी ममता में बच्ची को लिटा यूनस खाँ सैनिक की तेजी से ट्रक स्टार्ट करता है। अचानक सूझ जानेवाले कर्तव्य की पुकार में। उसे पहले चल देना चाहिए था। हो सकता है यह बच्ची बच जाये—उसके जख्मों की मरहम-पट्टी। तेज, तेज, और तेज। ट्रक भागी जा रही है। दिमाग सोच रहा है—यह क्या है ? इसी एक के लिए क्यों ? हजारों मर चुके हैं। यह तो लेने का देना है। वतन की लड़ाई जो है ! दिल की आवाज है—चुप रहो—इन मासूम बच्चों की इन कुरबानियों का आजादी के खून से क्या ताल्लुक ? और नन्हीं बच्ची—बेहोश, बेखबर ''

लाहौर आनेवाला है। यह सड़क के साथ-साथ बिछी हुई रेल की पटरियाँ। शाहदरा—और अब ट्रक लाहौर की सड़कों पर है। कहाँ ले जायेगा वह ? मेयो हॉस्पिटल या सर गंगाराम ? '' गंगाराम क्यों ? यूनस खाँ चौंकता है। वह क्या उसे लौटाने जा रहा है ? नहीं, नहीं उसे अपने पास रखेगा। ट्रक मेयो हॉस्पिटल के सामने जा रुकती है।

और कुछ क्षण बाद क्षोभ चिन्ता के स्वर में डॉक्टर से वह रहा है, "डॉक्टर, जैसे भी हो, ठीक कर दो इसे सही-सलामत चाहता हूँ मैं !" और फिर उत्तेजित होकर—"डॉक्टर, डॉक्टर " उसकी आवाज संयत नहीं रहती है।

"हाँ, हाँ, पूरी कोशिश करेंगे इसे ठीक करने की।"

बच्ची हॉस्पिटल में पड़ी है। यूनस खाँ अपनी ड्यूटी पर है मगर कुछ अनमना सा हैरान फिकरमन्द। पेट्रोल कर रहा है।

लाहौर की बड़ी-बड़ी सड़कों पर। कहीं-कहीं रात को लगी हुई आग से धुआँ निकल रहा है। कभी-कभी डरे हुए, सहमे हुए लोगों की टोलियाँ कुछ फौजियों के साथ नजर आती हैं। कहीं उसके अपने साथी गोरखों के टोलों को इशारा करके हँस रहे हैं। कहीं कूड़ा-करकट की तरह आदमियों की लाशें पड़ी हैं। कहीं उजाड़ पड़ी सड़कों पर नंगी औरतें, बीच-बीच में नारे—नारे, और ऊँचे ! और यूनस खाँ, जिसके हाथ कल तक खूब चल रहे थे, आज शिथिल हैं। शाम को लौटते हुए जल्दी-जल्दी कदम भरता है। वह अस्पताल नहीं, जैसे घर जा रहा है।

यूनस खाँ देखता है और धीमे-से कहता है, 'अच्छी हो न ! अब घर चलेंगे !"

बच्ची काँपकर सिर हिलाती है—"नहीं-नहीं, घर 'घर कहाँ है ! मुझे तुम मार डालोगे ।"

यूनस खाँ देखना चाहता था नूरन लेकिन यह नूरन नहीं, कोई अनजान है जो उसे देखते ही भय से सिकुड़ जाती है ।

बच्ची सहमी-सी रुक-रुककर कहती है, "घर नहीं, मुझे कैम्प में भेज दो। यहाँ मुझे मार देंगे—मुझे मार देंगे ' "

यूनस खाँ की पलकें भुक जाती हैं । उनके नीचे सैनिक की क्रूरता नहीं, बल नहीं, अधिकार नहीं । उनके नीचे है एक असह्य भाव, एक विवशता बेबसी ।

ब्लोच करुणा से बच्ची को देखता है । कौन बचा होगा इसका ? वह इसे पास रखेगा । ब्लोच किसी अनजान स्नेह में भीगा जा रहा है '

बच्ची को एक बार मुस्कराते हुए थपथपाता है—"चलो—चलो, कोई फिक्र नहीं —हम तुम्हारा अपना है "

ट्रक में यूनस खाँ के साथ बैठकर बच्ची सोचती है—ब्लोची कहीं अकेले में जाकर उसे जरूर मार देनेवाला है गोली से—छुरे से ! बच्ची ब्लोच का हाथ पकड लेती है—'खान, मुझे मत मारना—मारना मत ''" उसका सफेद पड़ा चेहरा बता रहा है कि वह डर रही है।

खान बच्ची के सिर पर हाथ रखे कहता है, "नहीं-नहीं, कोई डर नहीं—कोई डर नहीं—तुम हमारा सगा के माफिक है ।"

एकाएक लड़की पहले खान का मुँह नोचने लगती है फिर रो-रोकर कहती है, "मुझे कैम्प में छोड दो--छोड दो मुझे ।"

खान ने हमदर्दी से समझाया—"सब्र करो, रोओ नहीं— तुम हमारा बच्चा बन के रहेगा । हमारे पास ।"

"नहीं—" लड़की खान की छाती पर मुट्ठियाँ मारने लगी—"तुम मुसलमान हो—तुम ।"

एकाएक लड़की नफरत से चीखने लगी-—"मेरी माँ कहाँ है ! मेरे भाई कहाँ हैं ! मेरी बहन कहाँ—"

नवम्बर, 1949

लामा

याद आती है हम बच्चों की भोली टोली और वह लामा। झुकी हुई कमर पर नीले रंग की पेटी, कानों में बड़े-बड़े बाले, हाथों में छोटा-सा ढोल और गले में एक झोला-सा लटकाये जब बूढ़ा लामा सड़क के मोड़ पर आता तो न जाने क्यों हमारी उन छोटी-सी दुनिया में एक हलचल मच जाती।

झुर्रियों पड़े मुँह पर, रूखे-सूखे बालों में, फटे-पुराने चिथड़ों में, हम बच्चों के लिए कौन-सा आकर्षण था, कह नहीं सकती, लेकिन इतना ज़रूर याद है कि जब चिथड़ों में लिपटी उसकी देह झूमती-झामती सड़क के मोड़ पर दिखायी देती, तो हमारी टोली सीमेंट की पचास-साठ सीढ़ियाँ फलाँग-फलाँगते उतर जाती। लामा के इधर-उधर घेरा डालकर हम सब बच्चे तालियाँ मार-मारकर एक स्वर में चिल्लाते—

लामा सीनी सट्टा खा—
सट्टा खा के पानी पी
पानी पी के मर जा
मर के 'संजोली' जा!

इन चार गानों को दुहराते और दुहराते चले जाते। इनके मतलब से तो शायद हमें कोई सरोकार न था, लेकिन सिर्फ़ उस बूढ़े को चिढ़ाने के लिए 'मर जा' शब्द का प्रयोग करते। हमारी समझ में मरना एक गाली-भर थी। इससे अधिक जानने की कोशिश हमने कभी नहीं की। और लामा? उसकी धुँधली आँखों का थोड़ा-सा पानी उसके अधरों पर टपककर हमेशा हमारा स्वागत करता। कभी-कभी उसकी चुप्पी से हम डर-से जाते, तो हाथ पकड़कर कहते, "देखो लामा, ऊपर चलो, खूब आटा दिलायेंगे—खूब!"

और एक दिन नौकरानी के मुँह से सुना कि लामा 'मर गया'। हम बच्चे बहुत खुश हुए। मैंने अपने साथी से कहा, "शिवजी, खूब मजा रहा। लामा मर गया। भई वाह—अब बहुत-से आदमी उसे सफेद कपड़े में बाँधकर सड़क-सड़क घुमायेंगे। और देखना शिवजी, लामा खूब आराम से लेटे-लेटे 'झूटे' लेगा!" फिर अपना मुँह उसके कान की ओर ले जाते हुए कहा, "रोज सुबह-सुबह सड़क के मोड़ पर सबसे पहले चले जायेंगे। सुना ? और देखना जिस दिन लामा आयेगा तो उससे वहाँ की कहानियाँ सुनेंगे। आह, कितनी अच्छी बात बनायी न !" इतना कहकर हम दोनों ने खूब तालियाँ पीटीं ताकि हमारे साथियों को यह मालूम हो जाये कि हमने एक खास पोशीदा मामला तय किया है।

आँखों के इशारे से अपनी टोली को चिढ़ाते-चिढ़ाते हमने घर की राह ली। उस दिन खूब खुश थे। कितनी उत्कण्ठा, कितना उतावलापन था हमारे आह्लाद में ! और हमारा बचपन नयी-नयी कहानियों की प्रतीक्षा में आँखों के रास्ते छनक उठता था।

बहुत दिन हो गये। प्रतीक्षा करते-करते सुबह के एक-दो घण्टे सड़क के मोड़ पर बीत जाते। नौकर अम्मी के नाम का हुक्म लेकर आता तो दोनों उसको कोसते हुए घर लौट आते। बहुत दिन ऐसे ही चलता रहा। अब धीरे-धीरे शिवजी का धैर्य टूट रहा था। उसने मेरे साथ चलने से इन्कार कर दिया। और कहा, "देखो, बसन्त भैय्या रात को कह रहे थे कि मरे हुए आदमी कभी लौटकर नहीं आते। सुनो, अब मैं तो न आऊँगा !"

उस दिन से मुझमें और शिवजी में कुट्टी हो गयी। बातचीत का पहला सिलसिला टूट गया। अब मैं अकेले ही सबसे आँख बचाकर नीचे भाग जाती। वहाँ से निराश होकर लौटती, तो अपने आगे गुड़िया के पटोले रखकर सोचती—'लामा आयेगा तो उससे सारा हाल पूछूँगी, सबसे पहले तो उसकी खूब खबर लूँगी—कहानियाँ सुनूँगी। अपने मरने की बात तो उसे याद होगी ही। फिर उससे सबकुछ पूछ लूँगी कि इतनी देर तुम कहाँ रहे, सँजोली ले जाकर तुमको लोगों ने क्या-क्या किया। आह-हा, ढेर-सी बातें पता लगेंगी ! और शिवजी—रहने दो बेखबर बेवकूफ को ! बच्चू को तब पता लगेगा।'

मैं मन-ही-मन खूब खुश होती। अपनी कल्पना की उड़ान पर लामा को बिठाकर ले आती और पूछती—'लामा, सच-सच बताओ तुम मरे कैसे थे ? जब लोग तुम्हें सड़क पर घुमाते होंगे तो बहुत मजा आता होगा न !' भई वाह, मैं खुशी से पागल हो जाती और ऐसा मालूम देता जैसे लामा कल जरूर ही आ जायेगा।

कई महीने बीत गये। लामा न आया। हम शिमला छोड़कर दिल्ली आ गये। अब मैं बड़ी हो चली थी। बचपन की छाया भोली स्मृतियाँ समेटकर धीरे-धीरे दूर हो जाने लगी थी, लेकिन थोड़ा-सा सम्बन्ध अब भी उनके साथ शेष जरूर था। जब कभी किसी भिखारी की आवाज सुनती, तो बाहर जाकर देख जरूर लेती कि शायद लामा ही हो, अगर आ जाय तो"। लगता है, युग बीत गये हैं। पहले जैसी अब नहीं हूँ। बहुत बदल गयी हूँ। भोली स्मृतियाँ कभी-कभी दिल का द्वार खटखटाकर कहती हैं—बहुत-कुछ आ गया है तुम्हें, पर यह तो बताओ कि मेरे उन प्रश्नों का क्या किया तुमने जो तुम्हें लामा न पूछने दे!

मई, 1944

६। दो राहें दो बाँहें

चाँदिनी के उजले आकाश में उड़ानें भरती मीनल की हल्की फुल्की देह सागर पर सागर उलाँघती गयी। साड़ी के भीने पंख फैलाती देश विदेश मापती गयी। रंग भरी मुग्ध आँख हवाओं की गोद में थिरकती रही और मन की उमंग रह रह मिलन के गीत गाती रही। अनुराग भरी बाँहें आलिंगन के लिए घिर आयीं कि एकाएक सपनों के रुपहले कपाट बंद हो गये। आकाश का आँगन धूप से उजरा गया।

करवट ली आँखें खोलीं फिर मूँद लीं। पलकों की ओट झाँकता रोहित का प्रिय मुख—रोहित की प्यार भरी चितवन! रोहित! रोहित!

नहीं रहे वे क्षण नहीं रहे—बाँह इस ओर घिरती थीं और जी में प्यार भर भर आता था। इस ओर घिरती थी और छलकता मोह तन मन पर लहरा-लहरा आता था। सुध बुध भुला देनेवाली वह मोहनी क्या हुई? क्या हुए वे चूम लेने से काँपते स्वर? मीनो मीनो मीनू!

चौंककर आँख खोल दी।

भोर के इस हल्के मौन में सिमटा छोटा उदास कमरा और मशीन की स्मृतियों में लटके पुराने पीले परदे।

बाँहें फैला बीत गये छूट गये सपनों को सहेज लेना चाहा कि विवश हो उँगलियाँ माथे से आ लगीं। जिसे होना नहीं था होना नहीं था—उस अनहोनी के सपने यह अभागी आँख क्यों देखती रही—क्यों बुनती रही वे झिलमिलाते रुपहले ताने-बाने जो सपनों के संग ही धूल हो गये।

डाकबंगले पर घिर घिर आती उस अँधियारी शाम को पहली बार मीनल की बाँहों ने रोहित को सहेज लिया तो पागल रोहित विस्मय से मीनल को देखता

रैह गये।

माथे पर मुकी मीनल बार-बार पुकारती है—रोहित!…रोहित!!…
और रोहित काँपता स्नेहसना हाथ छू मन-ही-मन दुहराते हैं…मिन्नी! मिन्नी!!
वही मीनल है जिसे वह जानते थे पर पहचानते नहीं थे, जिसे वह देखते थे और
पुकारते नहीं थे—वही…वही मीनल…! कभी की लौ धीमी कर मीनल
ने दबे पाँव बाहर जा हौले-से पुकारा—"हरि दा!"

अँधियारे में पेड़ तले खड़े, उखड़े मन और शून्य आँखोंवाले हरेन बरामदे में
आ खड़े हुए। कुछ बोल नहीं। टिकुर-टिकुर मीनल की ओर तकते रहे।

"हरि दा…!"

मीनल पाँव बढ़ा तनिक पास हो आयी। चिन्तित स्वर से पूछा, "हरि दा,
रोहित क्या बहुत कष्ट में हैं…?"

"नहीं…नहीं…" हरेन विक्षिप्त-से सिर हिला-हिला निर्दयी कण्ठ से कहते
चले, "रोहित नहीं, मैं हूँ… मैं हूँ…।"

विमूढ़-सी मीनल कुछ समझने को, कुछ कहने को हुई कि उन खाली-खाली
आँखों पर कोई निर्दयी काली छाया उतर आयी।

हाथ बढ़ा बलपूर्वक मीनल को अपनी ओर खींचा—"रोहित नहीं, रोहित
नहीं, मैं कष्ट में हूँ… मैं कष्ट में हूँ।"

कि पीछे से श्यामली ने आ धीमे-से हरेन का कन्धा छू वर्ज दिया—"ऐसे
नहीं महाराज! ऐसे नहीं…!"

हरेन असमर्थ निरीह आँखों से मीनल की ओर देखते रहे, फिर बच्चों की
तरह श्यामली का हाथ पकड़ नीचे उतर गये।

जाने कैसे-से मन से मीनल खड़ी-खड़ी रोती रही। जिन हरि दा के लिए
वह सबसे विमुख होती रही—वही हरि दा…

पास से आता रुलाई का दबा-दबा स्वर सुन रोहित चौंककर जगे। एक आँख
से देखा—हल्की धीमी रोशनी में कुर्सी पर सिर झुकाये सिसकियाँ भरती मीनल
बीत गये सपनों की छाया-सी लगी। हाथ बढ़ा काँपते कण्ठ से पुकारा—"मीनू!"

मीनू नहीं, साड़ी के गाम्भीर्य में लिपटी मीनल रोती-रोती उन आहत बीमार
बाँहों में आ लगी।

सुबह हरि दा दिखे तो चेहरे पर न पागलपन था, न कपड़ों में पागलों की-सी
लापरवाही। इस नयी काया में हरि दा, हरि दा से नहीं लगे। रोहित के पास
आ आत्मीयता से कहा, "रोहित, जाने क्या-क्या बना भटकता रहा पर उस
दिन जो तुम्हें बचा सका, उसी के पुण्य से फिर हरेन हो गया हूँ।"

हरेन का भरा भरा स्वर सुन रोहित विस्मय से हिले कि हरेन स्नेह से हाथ छू बोले दुर्दिन मे मीनल की सहानुभूति पाता रहा पर उस श्राप से मुक्त कर लानेवाली तो यही श्यामली है रोहित !

सामने मिनी के पास खडी श्यामली सलज्ज हँसी फिर मीनल दी के गल लग बोली दीदी यही तो मेरे महाराज हैं यही तो मेरे महाराज हैं।

× × ×

काटेज न 3
जनरल हास्पिटल
रायपुर

शोभन दा

पत्र पढने से पहले अपनी मीनल को आशीष दें। आशीष दें कि मेरे रोहित अच्छे हो उठें। तुम दोनों स रूठकर चली आयी थी पर अब लगता है तुम लोगो ने मुझ अपना ठौर ढूढ लन को ही भेज दिया था।

शोभन दा रोहित का कडा जीवट देखती हू तो झक जाती हूँ। अपने दु ख दद से दूर वह चुपचाप निर्विकार से पलग पर पड रहते हैं। पूछती हूँ 'दद है ?

सिर हिला देते हैं नहीं।

डॉक्टर पूछते हैं बहुत कष्ट है ?

नही तो।

कध का प्लास्टर दूसरी बार लगा है। आँख की पट्टी अभी खुली नही

शोभन दा ! तुम्हारे ही निकट हो भगवान से माँगती हूँ रोहित फिर से सबकुछ वैसा ही देख सकें। वैसा ही

हरि दा का पत्र मिला होगा। वह श्यामली के सग बम्बई चले गये हैं।

भाभी को स्नेह भेजती हूँ और अपने दादा से ढर सा माँग लेती हूँ अपन लिए, रोहित क लिए।

प्यार से
मीनल

पत्र पढ़त-पढते शोभन दा विकल हो आये। हरीन्द्र के पत्र से सबकुछ जानकर भी मीनल की ओर से जसे वह कुछ और सुनना चाहते थे।

बहुत गम्भीर स्नेह जो उनकी मीनल किसी के दद से सहज ही द्रवित हो आती हो पर रोहित के लिए आशीष माँगता यह समापन ! सहसा कोई पुरानी गूज मन म आसपास गूजने लगी

× × शोभन दा ! तुम्हारे यह रोहित मन स ऐसे ही कडे हे जस ऊपर स

दीखते है।

सोमन दा किताब बन्द कर कुछ क्षण मीनल की ओर तकते रहे थे, फिर हँसकर कहा था, 'जानती हो, यही बात मीनल का नाम ले रोहित मुझसे पूछते थे ?

मीनल एकाएक सकुचा गयी। चेहरे पर कोई नयी सी छवि उभरकर विलीन हो गयी तो सिर हिला मीठे कण्ठ से कहा, 'नहीं दा, मेरे लिए रोहित ऐसा क्यों कहेंगे ? मैं क्या दूसरों की सीख स मन को ऊपर उठाकर चलती हूँ ?" × ×

सोमन दा बार-बार पत्र पलटते रह। पढ़त पढ़त कई बार मन में अटकते रह। मीनू के लिए कोई आशीर्वाद शब्दों में नहीं बाँध पाये। मन ही-मन दोहराया मीनल ! मीनल !! कि अपनी लज्जित कर देनवाली व्यथा कष्ट भर लायी। माथे पर हाथ रख सिर नीचे झुका लिया। कुन्तल !

अनजाने म रोहित जो कुन्तल के लिए कह गये थ वह एक दिन सहसा दुर्भाग्य बन उनके द्वार पर आ खड़ा होगा उनका सबकुछ छीन लेने के लिए" उनका सबकुछ !

उस दिन क्लास स सोमन बाहर निकले तो बादलों-भरी-दुपहरी सिर पर झुक आयी थी। घण्टे भर बाद उनका दूसरा पीरियड। कामन रूम की ओर जाते-जाते सहसा आँखो के आगे कुन्तल का प्रिय मुख घूम गया। वही सुबहवाली साड़ी, नीच लटकता पल्लू झुकी नजर और बहुत पास खड़े गुप्ता

सोमन के सरल निश्चल मन को एकाएक किसी अदृश्य न झकझोरकर चेता दिया। वह रुके नहीं। घबराये-से सीढ़ियाँ उतरे और लम्बे-लम्बे डग भर कालज से बाहर हो गये। आज इस क्षण यह आशंका क्यों ? व्यग्रता क्यों ? कुन्तल ' गुप्ता नहीं नहीं। फाटक खोल सहम-सहमे पाँवों अन्दर आये और बरामदे में लटकता गुप्ता का रेन कोट देख ठिठक गये। चाहा कि जोर से पुकारें—गुप्ता ! कि आक्रोश भरा स्वर गले में अटककर रह गया

दब पाँव बरामदा पार कर ड्राइंग रूम में आ खड़े हुए। कहीं कोई नहीं। न कुन्तल न गुप्ता पर अभिसार-सत्कार क लिए और कौन स्थान होगा ?

क्षण भर को रुके फिर गैलरी पार कर बेड-रूम का परदा उठा दिया। हाथ खींच परदे के इस पार स जब सोमन लौट ना पाये नहीं, बीत गये वर्षों के दिन रात घड़ी-पल सब लौट आये सब लौट आये

घरवाला दा जोड़ी आँखें खुली, बाहें खुलीं तो बरसाती साँझ कमरे में घिर आयी थी। और बाहर छम छम पानी बरसता था

अलसाये मन गुप्ता ड्राइंग रूम में आ खड़े हुए। कुन्तल ' कुन्तल

कुन्तल' 'अँधेरे में जैसे फिर एक बार कुन्तल को देख रहे हो, पा रहे हो। हाथ बढ़ा बत्ती जलायी तो आँखें खुली-की-खुली रह गयीं। शोभन ! 'सोफे पर आँखें मूँदे थके-से होकर बैठे शोभन ।।

कुन्तल नयी हो कपड़े बदल कमरे से बाहर आयी कि गुप्ता ने आगे बढ़ बाँहों में भर लिया और धीमे-से सेंवेन कर कहा—शोभन ! और जल्दी से अलग हो बाहर हो गये।

कुन्तल एक बार नहीं, बहुत बार ड्राइंग-रूम की दहलीज तक आकर लौट गयी। जितनी बार आती, सोये-सोये भयभीत पाँव मानो अपने से ही हारकर द्वार पर ठहर जाते। आठ' नौ ' दस टन ' टन टन ! हर घण्टे पर रात बीतती गयी। सुबह उठकर शोभन अन्दर आये तो फर्श पर औंधी पड़ी कुन्तल को देख लड़खड़ाये-से वापस लौट गये।

जो प्यार एक दिन उनकी बाँहों में आ लगा था, वह शेष हो गया' वह शेष हो गया !

कुरसी पर बैठी मीनल रोहित का हाथ सहलाती थी कि रोहित ने हौले-से बाँह खींच ली और आँखें मूँद अडोल लेटे रहे।

दिन-भर की लम्बी जाँच से थके रोहित इस क्षण किसी टूट गये आहत सपने-से दीखते हैं और पास झुकी मीनल दो अपलक आँखों-सी। दिन-भर से होती पड़ताल आज अधिकारियों के अन्तिम प्रश्नोत्तर के बाद समाप्त हो गयी।

'भाई-जी' के विशेष सहायक जाने से पहले रोहित का धन्यवाद कर अपने अधिकारपूर्ण कण्ठ को भरसक ढीला कर बोले "राय, पूरा काण्ड ढंग से चल पड़ा तो चेतसिंह को समाप्त करनेवाली बाँहों को विभूषित किया जायेगा।"

रोहित छोटा-सा हँसे और कृतज्ञता जताकर कहा—'थैंक्स !"

सुनकर मीनल की आँखें भर आयीं। एक बार, एक बार रोहित भले हो जायें फिर ...

डॉक्टर राउण्ड लेकर लौटने लगे तो मीनल उनके संग बाहर चली आयी।

"डॉक्टर।" स्वर में प्रार्थना थी।

डॉक्टर रुके, फिर दिलासे के-से स्वर में कहा, "घबरायें नहीं, आँख की पट्टी कल खुलनेवाली है · "

बरामदे से लौटती मीनल ने कई बार रोहित की गर्व-भरी-आँखों की बात सोची जो कल उसे जी-भर देखेंगी।

गाडी से पुकारकर कहा कुन्तल के लिए मिन्नी की सौग व दो न्ना!

मिन्नी की मीठी छवि आँखा मे झिलमिला गयी और दूर जाती रेल का सूनापन सिर झुका प्लेटफाम पर बिछा रहा। खड कई क्षण रेल की पटरियाँ देखते रहे फिर मीनल के लिए तरस धीरे धीरे पुन पार कर अपनी गाड़ी के सामने आ खड हुए।

अलग दिशाएं—अलग राहें।

मोद से लिपटी अपनी मृणाल के लिए जी उमड आया। रोहित के सामने वह मानो किसी गर्वीली देह-सी झुककर रह गयी है।

चलने के पहले आराम-कुरसी पर बैठ रोहित के पास खडी खडी मीनल रोती रही रोती रही।

रोहित कुछ कहें कुछ कहें—पर रोहित तो कुछ बोल नही।

अगाध सयमवाली अपनी बहन के लिए अपार करुणा उमड आयी।

रोहित का कधा छू शोभन बोले रोहित मिन्नी चली जाती है रोकोगे नही?

रोहित ने जैसे कुछ सुना नही। उस कठोर मुद्रा म दोनो हाथों को जकड चपचाप बठ रहे।

सहसा मिन्नी ने राते रोते रोहित की गोद मे सिर झुका दिया।

रोहित पल भर पठार-स अड रह फिर एकाएक उमडकर गोद मे पडा सिर चूम लिया और अस्फुट स्वर म बोले पीछे नही हटता हूँ मिन्नी! प्राण रहते अपनी बात रखेगा।

इस ज्वार भरे प्यार म कौन अटक थी कहाँ अटक थी—यही सोचते सोचते शोभन ग डी मे जा बैठ।

चलती गाडी की खिडकी में से बाहर देखने लग तो मन के आग घिर घिर आता मेला बचपन डर-सी स्मृतियाँ सहेज लाया

× × × माँ के सग गाडी म बठ वह और नन्ही मीनल। शोभन शोभन शोभन!

माँ मणाल को हलकी-सी थपकी दे लाड से कहती है बिटिया भया को शोभन नही शोभन दा कहते हैं।

मिन्नी सिर हिला हिला दुलराती है क्या कहत हैं माँ? शोभन दा शोभन दा शोभन दा! × × ×

वे खेल खिलौनो के भोले दिन! वे भोली चाहें!

कम्पार्टमेण्ट मे बठ अन्य जनो स बेखबर आँखें मूद लीं। शोभन दा आप

घर जायेंगे कहीं और नहीं ...।"

घर जायेंगे ? घर जो अब घर नहीं रह गया ! छिन्न-भिन्न हो गये उल्लास का सूना आकार-भर ! जायेंगे कि उस अँधियारी साँझ को बिसरा, पत्नी को एक बार फिर से पुकारें—कुन्तल !

कुन्तल !

ग्लानि से सिकुड किसी ओर देखा नहीं गया। विवश हो आँखें बाहर गडा दीं। खेत खलिहान भागते खम्भे और पेडों के काले सायों के संग-संग दौडती कुन्तल। शोभन गाडी में हैं और कुन्तल इस परिधि के बाहर।

शोभन पुकारते हैं। कुन्तल भागती है—और भागती है ...

अन्दर-बाहर की इस होड में, दौड में, शोभन केवल दर्शक-भर रह गये हैं, केवल दर्शक-भर !..

झटका लगा। शोभन दा उठे और खिडकी के सामने चिर-परिचित प्लेटफार्म आ लगा। नीचे उतर पडो-भर खोये-खोये इस ओर लौटा लानेवाली गाडी की ओर तकते रहे, फिर धीमी उदास चाल से स्टेशन से बाहर हो गये।

हाथ में बैग लिये पैदल ही घर की ओर चल दिये। सीधी जाती छोटी राह जैसे सूझी ही नहीं। कालेज का लम्बा चक्कर लगा घर के सामने आन पहुँचे तो सकोच और व्यथा के भँवर रह-रहकर पैरों को पछाडने लगे।...

बरबस अपने को सँभाल फाटक खोला और मन-ही-मन मनाया ...जो यहाँ तक ले आ सके हैं, वही प्रभु आगे भी... आगे भी सह सकने को बल दें ...

रह रहकर टकराती, पछाडें खाती समुद्र की अगाधी प्यासी लहरें लौट-लौट आती हैं और ज्वार के ऊँचे पूर में बह जाती हैं। किनारों को बाँहें नहीं मिलतीं लहरें और बौछारती हैं, और पछाडती हैं और बिछुड गये प्रिय जनों के नाम ले-ले पुकारती हैं—

रोहित !...शोभन दा ! . कुन्तल !...और अपना नन्हा सा रोहित...!

इन तन में लिपटा जो असह्य-असह्य चिन्ताओं में, विवशताओं में भी मीनल को सरसाता था, हुलसाता था, वह आँखें खुलते ही किसी अधिकारहीन कुलशीलहीन निशान की तरह मिट गया।

मीनल रोयी नहीं। धोयी नहीं। बिस्तर पर पडी-पडी एक बार उस निर्जीव नन्ही काया को देखा और जी कडा कर आँखें मूँद लीं।

वे मन-प्राण जो समूचे अभिमान से, समूचे गर्व से एक-दूसरे के लिए उमडे

थे—वे उस क्षण क्या सच ही स्नेह को पुकारते नहीं थे ? प्यार को सत्कारते नहीं थे ?

वह सच हो आया जो एक दिन शोभन दा ने संकेत कर दिया था—"मिन्नी, रोहित जो कुछ भी रहे हो, छूट लेकर उसे चुकाना तो नहीं ही जानते।"

रोहित के लिए ऐसा अभियोग पढ़ मीनल रोयी थी। शोभन दा पर क्रोधित हो आयी थी। पर गहरे वहीं कोई चुपके से चेता गया था—जो होने को है, जो आने को है, वह एक तिरस्कार बनकर रह जायेगा। उनका इस लोक-परलोक में कहीं कोई नहीं होगा। कहीं कुछ नहीं होगा। नाम नहीं, अधिकार नहीं।

कभी दो अभिमान, दो गर्व मिले थे—ऐसे अनादर में धूल हो जाने के लिए…।

प्यार की सब कथा, सब व्यथा शेष कर मीनल नर्सिंग होम की सीढ़ियाँ उतरी तो न मन सिहरा, न पाँव काँपे। शान्त हो गयी, स्वच्छ हो गयी देह, धुले कपड़े-सी अड़ी-अड़ी, कड़ी-कड़ी। सादी सफेद साड़ी में लिपटी अपने पुराने सतरंगी स्वप्न को जैसे नर्सिंग होम में छोड़ आयी। वह अवश-सी विवश-सी थकन, वह रोहित को पुकार-पुकार आते आलोड़न के पल, वह मोह को मोहनी—सब रीत गये। सब बीत गये।

बाहर आकर तत्काल ही टैक्सी नहीं ली। भीड़ में से पैदल निकल चली तो कोई भी परिचित-अपरिचित आँखों ने मीनल को पहचाना नहीं। मन में कुछ ऐसा हो आया कि इस अपार जन समूह में कोई भी इस अभागे मुख को निहारनेवाला नहीं।

पहले से रिजर्व करवाये बोर्डिंग हाउस के कमरे में रात को लेटी तो गाढ़ा-काला अँधियारा मन के आसपास छा गया। सब ओर अँधेरा है सब ओर अँधेरा है। दूर-दूर तक फैले पठार के वीराने में केवल रोहित की एक आँख चमकती है। रोहित की एक आँख चमकती है।

"मिन्नी ' मिन्नी !"

मीनल भीगकर कहती है, "कहो रोहित !" रोहित कुछ कहते-कहते झिझकते हैं, फिर अनचाहे-से पूछ लेते हैं, "मीनू, हरीन्द्र पर बरसती तुम्हारी अनुकम्पा देख चुका हूँ, पर मुझ पर भी क्या ?"

सुनकर मिन्नी पल-भर को ठिठकी, मानो यही बात अपने से पूछती हो, फिर शान्त ठहरे स्वर में बोली, "नहीं रोहित, मेरा अपना दर्द है जो तुमसे कुछ माँगता है।"

रोहित अपने गाम्भीर्य से मीनल को एक बार फिर पुकारकर पा लेते हैं।

फिर मीठी रात उतरी लहरा गयी। सरसा गयी। बिसरा गयी रोहित के दुःस्वप्नों को!

भोर हुई। हवाएँ हलकी हो कमरे में थरथरा आयीं। उमड़कर पुकारा, "रोहित!"

रोहित ने घेरकर चूम लिया। मिन्नी!

कमरे में धूप फैलने लगी तो लाड़ से कहा, "रोहित, अब सिस्टर आने को है··· " और हँसती-खिलती-सी पास से उठ गयी।

नहा-धो बाल सँवारते मृणाल ने छोटे-से दर्पण में अपने को देखा। देखती रही, देखती रही, फिर लजाकर हाथों में मुँह छिपा लिया। कोई चोर पैर ताल दे-दे कहते रहे—मीनू · मिन्नी · मीनल ·।

मीनल अन्दर आयी तो रोहित पर झुके डॉक्टर खड़े थे और पास छाँट-सी करती सिस्टर। पट्टी खुली।

"कुछ देख नहीं पाता हूँ, डॉक्टर!"

डॉक्टर हाथ फेरकर कहते हैं, 'राय, धीरे-धीरे आँख उजाले की अभ्यस्त होगी। अब?"

"नहीं डॉक्टर!"

डॉक्टर व्यस्त हो, हाथ आगे कर कहते हैं, "कुछ हल्का-सा?"

"डॉक्टर, कुछ भी नहीं!"

रोहित का गम्भीर स्वर सुन डॉक्टर मानो चिन्तित हो आये। जाँचते रहे, देखते रहे। फिर दोबारा पट्टी बाँध जाते-जाते कहा, "मिराजकर से कन्सल्ट करना होगा।"

"धन्यवाद डॉक्टर!" कृतज्ञता जताता रोहित का रौबीला कण्ठ।

डॉक्टर चले गये। मीनल खड़ी रही। रोहित लेटे रहे और घड़ी की टिक्-टिक् समय मापती रही। दिन-भर रोहित कुछ बोले नहीं। सहमी-सी मीनल देर तक खड़ी-खड़ी खिड़की में बाहर देखती रही। मन हो आया रोहित को दुलारकर कहे—'कुछ डर नहीं · कुछ डर नहीं' कि सुबहवाला रोहित का कठिन स्वर याद कर अटक गयी। सामने बिछी दोपहरी खिड़की से दूर चली गयी तो घबरायी-सी मीनल ड्यूटी-रूम तक जा उन्हीं पैरों पलट आयी।

रोहित के लिए डॉक्टर सचमुच में ही क्या सोचते हैं, यह जान लेने की हिम्मत नहीं हुई। लौटी कि रोहित का स्नेह-भरा कोमल स्वर सुन पड़ा, "मीनू ···सुनो तो!"

मीनल बँधी-बँधी पास आयी कि तन-मन पर फिर रात उतर आयी।

विह्वल हो पलँग की बाँही पर सिर झुका दिया।

रोहित बालों को बहुत हौले, बहुत हौले मानो छूते भर हो, सहलाते र
और मीनल पडी-पडी अतीत के रतनारे स्वर सुनती रही।

"पानी में पैर डाले, दूर-दूर-सी दिखती तुम! देखकर जैसे सदा को जा
लिया था कि एक दिन, एक दिन मिन्नी को शोभन से माँग लूंगा। लौटती बा
ड्राइव करते तुम्हारे मौन से ही जाने कितनी बातें करता रहा था। घर लौटा त
क्षण-क्षण एक ही मुख दीखता पर फिर तो धीरे-धीरे हरीन्द्र की सहानुभूति
में मीनल परायी होती चली।"

मृणाल हँसी, जैसे अपना अपराध स्वीकारती हो। फिर मान से सिर हिल
बोली, "जानती हूँ, उन दिनों पुलिस के बडे साहब हर क्षण घेरा करते थे।"

"और हरीन्द्र के लिए क्या सँजोती मीनल रोहित को नित्य ही कुरेदती थी।'

"रोहित ...!"

मीनल कुछ कहने जाती थी कि सिस्टर अन्दर चली आयी। ऐसे हँसी कि
हँसती न हो, ऐसे देखा कि देखती न हो।

रोहित मीनल का हाथ थामे-थामे हँसकर बोले, "सिस्टर, आँख ठीक हो
गयी तो इस वाली को दिन-रात तंग किया करूँगा न हुई तो फिर छुट्टी पा
जाऊँगा।" अप्रतिभ-सी मीनल कुछ कहने को हुई कि सिस्टर ने द्वार की ओर
देखकर कहा, "डॉक्टर मिराजकर आने को हैं।"

रोहित ने सहज में मीनल को अपनी ओर भर लिया और चूमकर धीमे-
से कहा, "बस मिन्नी "

मिराजकर के अनुभवी हाथ देर तक रोहित की आँख की परीक्षा करते
रहे। साँस रोके मीनल खडी-खडी देखती है और सिस्टर तत्परता से अपनी ड्यूटी
पर।

डॉक्टर मिराजकर और साठे बाहर निकले तो मीनल सिस्टर से कुछ जान
लेने के लिए संग-संग बाहर चली। सिस्टर रुकी नहीं। हाथ से संकेत दे मीनल
को छोड आगे चली गयी।

मीनल खडी रही, खडी रही। डॉक्टर तो कुछ भी नहीं कह गये, फिर कुछ
देर पहले की उमंग मन से एकाएक दूर क्यों हो गयी है। बुझे-बुझे मन अन्दर
आयी कि रोहित का पतला धीमा स्वर सुन ठिठक गयी।

"यह आँखें एक आँख · एक आँख ··मोह !"

मीनल वहीं रुकी रही। आगे नहीं बढ़ी। जान लिया कि रोहित के विवश
बोल किसी और द्वारा सुनने के नहीं हैं।

देर बाद पुकारा—"रोहित।"

रोहित दुलार के-से स्वर में बोले, "मीनल, एक काम कर सकोगी?"

"कहो रोहित।"

रोहित जैसे अपनी ही गम्भीरता को हल्का करने को हँसे, "एक पत्र शोभन को लिखना होगा मीनू · अभी।"

रोहित की सदा की-सी निश्चिन्त आवाज़। सिर पर झूलते किसी अज्ञात भय से मीनल एक बार सिहरकर पत्थर हो गयी।

रोहित ने फिर पुकारा, "मीनल!"

मीनल कुछ बोली नहीं। कुरसी पर बैठे-बैठे आँखें मूँद लीं कि सोती हो। मन को किसी ने चेता दिया कि यह क्षण, यह क्षण शुभ नहीं, शुभ नहीं!

मृणाल ने नींद में जब सच ही आँखें मूँद लीं तो सपने में देखा—

नीले आकाश पर दो तारे हैं। दो मुख हैं। दो जोड़ी बाँहें हैं। सत्कारती, स्वीकारती एक चाह है। एक चाह है जो धरती पर फैली समय की घाटियाँ माप जायेगी। पठार पर छा जायेगी। धीरे-धीरे नन्हा-सा रुपहला चाँद निकल आयेगा। अँधियारा बिछुड़ जायेगा। चारों ओर आलोक बिखर जायेगा। फिर भोर हो आयेगी। छोटे-से घर को चूम जायेगी। रोहित होंगे, रोहित की मीनल होगी और एक हँसता-खेलता नन्हा मुन्ना—छोटे-छोटे पाँव इधर दौड़ा आयेगा। रोहित अपनी गर्व-भरी आँखों से हँस सकेत से बुलायेंगे ··इधर ··इधर ··

एकाएक बिखरते काँच का स्वर सुन नींद टूट गयी।

भयभीत घबरायी-सी मीनल चौंककर उठ बैठी। डरी-डरी दृष्टि से कमरे के चारों ओर देखा। रोहित क्या पलंग पर लेटे हैं?···

हाथ बढ़ा टेबिल-लैम्प जला लिया तो विस्मय से बोर्डिंग हाउस के उस अपरिचित अनजान कमरे को देखते-देखते आँखें डबडबा आयीं।

खुले नीले आकाश पर जगमगाता वह मीठा मधुर घर·· किलकारियों-भरे घर का आँगन···

सब कहाँ हैं?

सब कहाँ हैं?

अँधियारे में भटकती मीनल सिरहाने पर सिर डाल फिर लेट गयी तो लगा कि रात-भर के सफर के बाद वह सपनों के सुनहले देश से लौट आयी है।

लौट आयी है।

अकेली! अकेली! अकेली ··

1959

०००